Municipal Library,
BOMBAY.

Class No. 891.7
K725
Book No. 997

शहर का अँदेशा

श्री किरणबिहारी दिनेश

प्रकाशक
विद्यामंदिर प्रकाशन,
मुरार (ग्वालियर)

प्रथम संस्करण
जनवरी १९४५

मुद्रक
पं. श्यामाचरण लवानियाँ,
भारतीय प्रेस, लश्कर

प्रकाशक की ओर से

हिन्दी में सजीव एवं स्वस्थ हास्य और व्यंग्य विषयक साहित्य की आज भी कमी ही है। वास्तव में इसके निर्माण के लिए लेखक में प्रखर प्रतिभा, अनोखी सूझ एवं सजग अन्वीक्षण शक्ति की अत्यधिक आवश्यकता है और साथ ही लोक-जीवन से निकट सम्पर्क भी अनिवार्य है। तूलिका के धनी व्यंग्यचित्रकार 'शंकर' में इन सब गुणों का जो समन्वय हुआ है वह हिन्दी के किसी क़लम के धनी में हमें देखने को न मिला था।

स्थानीय साप्ताहिक 'जीवन' के प्रकाशन के प्रारंभ से ही हमने देखा कि उसके पन्नों को सादुल्ला साहब पठान अपनी सजीव एवं चुभती हुई खरी-खरी कहकर उन्हें एक अनोखा जीवन एवं ताज़गी प्रदान कर रहे हैं। अत्यन्त स्पष्टभाषी परन्तु प्रियम्वद, दुबले-पतले क्षीणकाय परन्तु जन-हित में सतत व्यस्त श्री किरणविहारी जी दिनेश से हमारा पुराना स्नेह है, उनके मुग्धकर भाषणों के जादू का प्रभाव भी हम देख चुके थे, किन्तु उनमें इतना मर्मस्पर्शी व्यंग्य एवं सजीव हास्य लिखने की पूर्ण शक्ति है, यह हमें उसी दिन ज्ञात हुआ, जिस दिन इस रहस्य का उद्घाटन हुआ कि 'सादुल्ला' की हवाई गिलाफ ओढ़कर दिनेश जी ही अपना किरण-जाल फैलाकर जीवन को सजीव करते हैं।

इन प्रबन्धों का लेखन उस समय प्रारंभ हुआ, जब दिनेश जी शहर के अँदेशे में परेशान होकर अपने स्वास्थ्य की भी बलि प्रदान कर चुके थे और उस प्लुरिसी के प्यारे बन चुके थे, जो उन्हें एक युग से चारपाई पकड़ाए हुए है। उनकी रोगशय्या के पास बैठकर ही हमें यह ध्यान आया कि इनकी यह रचनाएँ थोड़े ही फेर-बदल से हिन्दी-साहित्य की बहुमूल्य निधि बन सकती हैं। आज हमें इस बात की प्रसन्नता है कि मित्रों के सहयोग से, विशेषकर 'जीवन' के सम्पादक श्री मिलिन्द जी की सहायता से वह विचार पूर्ण हो सका।

दिनेश जी ने हमारे प्रत्येक आग्रह को पूरा किया इसके लिए हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं; हमें मूल रचनाओं की भाषा पसन्द न थी, उन्होंने उसे बहुत कुछ बदल दिया, रचनाओं का अत्यधिक स्थानीय रँग भी हमें ठीक ज्ञात न हुआ, किरण जी ने उसे भी बदल दिया; 'सादुल्ला की खरी-खरी' नाम भी हमें उपयुक्त न प्रतीत हुआ, उसे बदलने की भी हमें अनुमति मिल गई; हम आजकल की मुद्रण की कठिनाइयों में पुस्तक का अलंकरण मन-चाहा न करा सके, फिर भी उन्होंने इस दिशा में हमारी सराहना ही कर दी।

दनेश जी अ ः कितने समय से रोगशय्या पर पड़े हैं, यह स्मरण आते ही चित्त को बड़ी खिन्नता होती है। परन्तु आज भी इस पौन फेफड़े की जीर्ण-शीर्ण काया के निकट बैठने से, इस जिन्दा-दिल की जिन्दगी-भरी बातें सुनने से, हृदय की म्लानता, मन की कमज़ोरी नष्ट होती है। हमारी भगवान् से प्रार्थना है कि इस क़लम के धनी, जीवन के निर्भर एवं लोकहित के पुजारी मित्र को शीघ्र ही पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त हो और इस दिनेश की मृदुल एवं मंजुल किरणों से हिन्दी-मन्दिर प्रकाश-पूर्ण बनता रहे।

इस पुस्तक के चित्र गवालियर के प्रख्यात चित्रकार श्री मुकुन्दराव जी भाँड के बनाए हुए हैं। 'संटी-मुर्गा-ट्रेनिंग' तथा 'बीबी सल्लामलेक' सम्बन्धी चित्र श्री हरिमोहन जी वर्मा के बनाए हुए हैं। हम इन चित्रकार मित्रों के बहुत आभारी हैं, तथा 'भारतीय प्रेस' के मालिक श्री श्यामाचरण जी लवानियाँ के भी हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने इस पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित करने में हमारी पूर्ण सहायता की।

लेखक

परिचय

इलाहाबाद का ज़िक्र करते हुए जिस गौरव के साथ

"याँ धरा क्या है, बजुज़ अकबर के औ' अमरूद के!"

कहा गया था, उसी गौरव के साथ ग्वालियर-शहर के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता था :—

"फ़ख्रे-ग्वालियर हैं, ऐ राही,—
सादुल्ला औ' बालूशाही "

कविवर अकबर इलाहाबादी के देहान्त के बाद इलाहाबाद का गौरव केवल पचास प्रतिशत ही कम हुआ था। मगर, हमारे लायक़ दोस्त, लोकोक्ति के काल्पनिक सादुल्ला के सजीव साहित्यिक अवतार तथा इस पुस्तक के लेखक श्री किरणविहारी दिनेश के लम्बी और गंभीर बीमारी से ग्रस्त हो जाने के बाद ग्वालियर का गौरव नब्बे फ़ी-सदी घट गया है। पचास फ़ी-सदी की अधिकारिणी बालूशाहियाँ तो हमें कभी की दग़ा दे ही चुकी थीं। दिनेशजी के नाज़ुक स्वास्थ्य ने उनकी सादुल्लाशाही छेड़छाड़ की हलचलों को डॉक्टरों के कड़े कंट्रोल के पूर्णतया अधीन करके हमें शेष पचास में से कम से कम चालीस से वंचित कर दिया है। ग्वालियर का यह बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि दिनेशजी को अपनी बीमारी के कारण अपना लिखना-पढ़ना क़तई बन्द कर देना पड़ा है और किसी ज़माने में अपने ख़स्ता-पन के लिए भारत-विख्यात ग्वालियर की बालूशाहियाँ भी आजकल अपने कड़ेपन में कचौड़ों से होड़ करने लगी हैं!

बिसकुटों की इस बीसवीं सदी में ग्वालियर की पुरानी बालूशाही को पुनर्जीवित करना तो नितान्त असम्भव है, पर, यह आशा तो की जा सकती है कि अपने विश्वास के चिकित्सकों के भगीरथ प्रयत्नों के फलस्वरूप दिनेशजी संभवतः किसी दिन फिर अपनी प्रतिभा की भागीरथी से साहित्य-संसार को पूर्ववत् आप्लावित करने योग्य होकर ग्वालियर का गौरव पुनः बढ़ाने में समर्थ हो सकेंगे। हमारी इस शुभकामना में, इस पुस्तक का प्रत्येक सहृदय पाठक, हमें आशा है कि, हमारे साथ होगा।

इस दुनिया में दिल खोलकर हँस सकने वाले स्वच्छ-हृदय व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। हँसने वालों से हँसा सकने वाले बहुत कम हैं और हँसा सकने की शक्ति के सृजन को क़लम की नोक से काग़ज़ पर उतार कर हास्य-रस के सुरुचिपूर्ण, प्रभावशाली और स्थायी साहित्य का निर्माण करने वालों की संख्या तो और भी कम है। सुरुचिपूर्ण हास्य की

दिशा में सारे संसार का साहित्य काफ़ी अभाव-ग्रस्त बतायाजाता है। विश्व-साहित्य के सम्मुख हिन्दी-साहित्य को खर्व किए बिना हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी में भी सुरुचिपूर्ण और मार्मिक हास्य और व्यंग्य के लेखक उँगलियों पर गिने जाने योग्य हैं। यदि दिनेशजी का स्वास्थ्य उनका साथ दे, तो निस्सन्देह वह उनके मध्य में अपने लिए महत्त्वपूर्ण स्थान बना ले सकते हैं।

इसे दिनेशजी का फक्कड़पन कहें या लापरवाही कि उनके व्यंग्य और विनोद की इतनी उच्च प्रतिभा के धनी होते हुए भी, उनके लगभग बयालीस साल के जीवन में यह उनकी पहली कृति पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रही है, और वह भी तब, जब इसके प्रकाशक के दिमाग़ में अचानक इसके प्रकाशन की कल्पना पैदा हो गई और उस कल्पना ने आग्रह का रूप धारण कर लिया। और, दिनेशजी की यह धुन भी अजीब ही समझी जायगी कि उन्होंने अपने नगर की एक पुरानी कहावत ("खरी बात सादुल्ला कहै, सबके मन से उतरा रहै") पर रीझकर सादुल्ला नाम ग्रहण कर लिया और सिर्फ़ सादुल्ला के नाम से सामंजस्य स्थापित करने के लिए ही बीसियों व्यंग्यविनोदपूर्ण चिट्ठियाँ, उर्दू-भाषा से काफ़ी अनभिज्ञ होते हुए भी, उर्दू-भाषा में लिख डालीं। किन्तु, इस विचित्र आयास में भी नागरी-लिपि ने उनका साथ उसी तरह नहीं छोड़ा जिस तरह, स्वर्गीय कविवर अकबर इलाहाबादी के शब्दों में, शेख़जी की लन्दन-यात्रा में उनका ऊँट उनके साथ ही चला था।

दिनेश जी की ज़िन्दादिली ग्वालियर-राज्य के सांस्कृतिक जीवन की एक नियामत है। अपनी कुछ मानवीय दुर्बलताओं के बावजूद, दिनेश जी का व्यक्तित्व एक शानदार व्यक्तित्व है। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक आदि विविध क्षेत्रों में उन्होंने काफ़ी काम किया है और अपनी विनोदप्रियता के रस से बहुत से साथी कार्य-कर्ताओं को प्रसन्न करके, हँसा-खिलाकर, उनकी ज़िन्दगी में काफ़ी दिन बढ़ाए हैं, उनमें काफ़ी नए रक्त का संचार किया है। उनके मिलने वालों ने उनसे कितनी अधिक ताज़गी पाई है! खेद है कि आज उनमें से एक भी इस लायक नहीं है कि अपना कुछ रक्त देकर भी उनकी बीमारी से उन्हें शीघ्रही पूर्ण मुक्ति दिला सके। जिस बीमारी में रक्त आदान की आवश्यकता होती है, संभवतः वह बीमारी उनकी बीमारी नहीं है। यदि वैसा कोई अवसर होता, तो, हमारा अनुमान है कि, संभवतः उनके परिचितों में से कुछ लोग उनके लिए रक्त देने को सहर्ष तैयार हो जाते। उनकी लोकप्रियता इतनी उच्च कोटि की है!

और उनका धैर्य ? उसका तो पूछना ही क्या है ! प्रत्येक क्षण मृत्यु को चुनौती देकर उससे संघर्ष करना और धैर्यपूर्वक जीवन के उत्साह और आशा का पोषण करते रहना कम वीरता का काम नहीं है ! यह काम दिनेशजी कई वर्षों से कर रहे हैं और कहा जा सकता है कि काफ़ी दृढ़ता और सफलता पूर्वक कर रहे हैं। मुट्ठी-भर हड्डियों के त्वचा-मात्र से मढ़े हुए शरीर पर प्रसन्न मुख और उस मुख से मुसकान के साथ समय-समय पर निकलने वाले विनोदपूर्ण वाक्य दिनेशजी की आज भी एक ख़ास पहचान है। फ़रसूदा चेहरे और मुहर्रमी तबीयत वाले व्यक्ति का भी दिनेशजी के पास कुछ देर बैठकर बिना हँसे रहना मुमकिन नहीं है। और फिर यह भी मानी हुई बात है कि दिनेशजी का व्यंग्य-विनोद छिछला, निरर्थक, विद्रूपात्मक, हीन कोटि का या अशिष्ट कभी नहीं होता !

समाज-सुधार के क्षेत्र में काफ़ी काम करने के बाद दिनेशजी ने जब राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया, तो उन्हें अपने समय और क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक संस्था में उच्च पद दिया गया। उनकी भाषण-शक्ति का लोहा बड़े-बड़े व्याख्यान दाताओं को मानना पड़ा। उस शक्ति के द्वारा कभी-कभी तो उन्होंने अकेले ही अत्यन्त प्रबल विरोध को चुनौती देकर भी लोकमत का पलड़ा ही पलट देने का यत्न किया ! उनके व्याख्यान जिन्होंने सुने हैं, वे कभी उनकी वक्तृत्व-कला के प्रभाव को न भूल सकेंगे। उनके भाषणों की तेजस्विता का उनके जीवन में भी अधिक से अधिक उतरना अत्यन्त स्वाभाविक ही था और इस प्रकार जनता को उनसे अच्छा नेतृत्व प्राप्त हो सकता था, प्राप्त होने लगा था, पर, उनकी बीमारी ने उन्हें शीघ्र ही सक्रिय राजनीति से अलग हो जाने को विवश कर दिया !

साहित्यसेवा दिनेशजी की प्रतिभा का सब से अधिक स्वाभाविक कार्य होने के कारण ही उनकी सब से अधिक उपेक्षा, सब से ज़्यादा लापरवाही का पात्र रहा। यद्यपि उनकी यह मस्ती, यह लापरवाही और यह फक्कड़पन ही उनकी साहित्यिक सजीवताका कारण रहा है, तथापि, इस से हिन्दी-साहित्य की काफ़ी क्षति हुई है। यदि दिनेशजी ने नियमपूर्वक लिखते रहने की ज़रा भी आदत डाली होती, तो उनके द्वारा हास्यरस के साहित्य के अभाव की बहुत अधिक पूर्ति हुई होती।

हास्यरस ही क्यों, जिन्होंने गंभीर विषयों पर लिखे गए उनके निबन्ध कि उनकी संख्या बहुत ही कम है, उन्होंने उनकी भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। कुछ विद्वानों को तो आश्चर्य हुआ है कि सदा हँसने और हँसाने वाले तथा व्यंग्य और विनोदपूर्ण

रचनाएँ लिखने ही में सर्वाधिक रस लेने वाले दिनेशजी ऐसे गंभीर विषयों पर इतने उच्चकोटि के निबन्ध कैसे लिख सके हैं! उनमें से कुछ सामयिक पत्रों में प्रकाशित भी हुए हैं, पर, अभी तक उनकी संख्या इतनी नहीं हो पाई है कि उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित कराने की कल्पना की जा सके। निरर्थक और निर्जीव साहित्य के वृथा-पुष्ट पोथे लिखकर प्रकाशित कराने की अपेक्षा दो-चार अच्छी चीज़ें लिखकर घरके किसी कोने में डाल रखना दिनेश जी की, ज़िद की सीमा तक पहुँचने वाली आदत रही है। इस समय तो वह रुग्ण हैं, पर, स्वस्थ अवस्था में भी उन्हें :—

"मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्"

(क्षणभर प्रज्वलित होना चिरकाल तक धुआँ देने से श्रेष्ठ है)

का साहित्यिक आदर्श काफ़ी प्रिय रहा है और इसीलिए उनकी साहित्य सृष्टि का विस्तार प्रत्येक क्षेत्र में अत्यन्त सीमित रहा है।

दिनेशजी की सारी सामाजिक और राजनीतिक लोकसेवा को यदि भुला दिया जाय, उनके गंभीर निबन्धों और ग्वालियर के पुराने सन्त-कवियों के सम्बन्ध के उनके मार्मिक अन्वेषण-कार्य और तत्सम्बन्धी परिश्रम की भी यदि पूर्ण उपेक्षा करदी जाय, तो भी, वह अपने केवल हास्य और व्यंग्यपूर्ण साहित्य की इन थोड़ी-सी पँक्तियों के बल पर भी साहित्य-संसार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान पा सकेंगे, इस में हमें तो कोई सन्देह नहीं। इस पुस्तक के पाठक इसे पढ़कर निर्णय करें कि वे किस हद तक हमारे साथ सहमत हो सकते हैं। किन्तु, इसे पढ़ने के पहले उन्हें दिनेशजी की 'अपनी बात' पढ़कर उन परिस्थितियों से परिचित हो लेना चाहिए, जिनके कारण इसकी भाषा का वर्तमान रूप उनके सामने आया है और अपने मन में से भाषा-सम्बन्धी भेद-भाव की भावना को दूर करके केवल रसग्रहण करने का यत्न करना चाहिए। साथ ही, यह भी न भूलना चाहिए कि दिनेशजी की खुद की भी यह प्रबल इच्छा है कि स्वस्थ होने पर वह शुद्ध हिन्दी-भाषा में भी हास्य और व्यंग्यपूर्ण साहित्य का निर्माण करें।

'जीवन'-कार्यालय, ग्वालियर
ता: ६ जनवरी १९४५

—जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

समर्पण

स्पष्टवादिता, शिष्ट विनोद और मार्मिक हास्य
की सजीव प्रतिमूर्ति

श्री डॉ० भगवत्सहाय जी एम. डी. को

मेरे जीवन की सम्भवतः एकमात्र कृति
सादर समर्पित है।

इसलिए नहीं कि—

यह सात वर्षों से मेरे रोग-जर्जरित शरीर के टुकड़े को
अपने औषधोपचार के अथक श्रम से घसीटते
चले आ रहे हैं, बल्कि इसलिए कि—

वह अपने जीवन की अगणित व्यस्तताओं के रहते हुए
भी एक सच्चे इंसान की तरह खुले दिल से
परिहास कर सकते हैं, समझ सकते हैं और
उसका आनंद ले सकते हैं।

राक्षस-संक्रान्ति,
संवत् २००१ वि० } किरणविहारी दिनेश

अपने मुँह अपनी बात

जनता के मनोरंजन का पेशा करने वाले एक वर्ग-विशेष का प्रत्येक सदस्य अपने तमाशे के प्रारम्भ में कहता है:—"मेरे घोड़े की तारीफ़" ! बीसवीं सदी का हर इन्सान यह अच्छी तरह जानता है कि यह ज़माना अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने का है। आत्म-विज्ञापन आज के युग की सबसे परिष्कृत कला है। प्रत्येक समझदार लेखक इस युग में इसका आश्रय लेता है, इस दशा में यदि मैं भी अपनी इस पुस्तक के प्रकाशन को लेकर अपने मुँह अपनी बात कहने लगूँ, तो "महाजनो येन गत: स पंथा" से अधिक भयंकर बात न होगी—फिर चाहे 'महाजन' का अर्थ 'बड़े आदमी' हो या डा० भगवान दास जी की नवीनतम परिभाषा के अनुसार 'बहुत से आदमी' हों। और फिर यह युग-धर्म जो ठहरा। इसका उल्लंघन करना पाप भी तो होगा, इसलिए अपने मुँह अपनी बात तो कहनी ही पड़ेगी।

जी, हाँ, इस पुस्तक से सम्बन्धित मेरी कहानी का वह समय आज से २०-२२ वर्ष पहले का था, मेरे जीवन के उस भाग का एक अंश जिसे "अलल-बछेरा-युग" कहा जा सकता है। मैं महज़ १८-२० वर्ष का छोकरा था। उन दिनों घर के चाचा-ताऊ तो सब समाप्त होचुके थे। मुहल्ले के एक चाचा (जो तत्कालीन युग-धर्म के अनुसार असली चाचा के समान ही अधिकार रखते थे) स्वर्गीय मुंशी रामस्वरूप माथुर (सम्पादक 'जयाजी प्रताप') ने मुझ अलल-बछेरे को नाथने का प्रयत्न किया। चाचा-शाही हुक्म हुआ कि मैं 'जयाजी प्रताप' में कुछ लिखा करूँ। क्या लिखूँ कुछ समझ में न आया। फिर उन्होंने ही सुझाया कि 'सादुल्ला' के नाम से जन-हित के विषयों पर व्यंग्य और हास्य पूर्ण टिप्पणियाँ लिखा करूँ। बचपन से कुछ मज़ाक पसंद-सी तबियत पाने की लाचारी के कारण यही मेरा प्रिय विषय भी था—"जो रोगी को भावे-वही वैद्य बतावे"

यह 'सादुल्ला' क्या बला है पहले यह बतादूँ। हमारे शहर ग्वालियर में, जो अपने नाम से एक आधुनिकता प्रिय राज्य को प्रसिद्ध बनाकर भी स्वयं एक पुराने ढर्रे का शहर है—एक मसल मशहूर है—शायद बाबा आदम के जमाने से—"खरी बात सादुल्ला कहै, सबके मन से उतरा रहै"—सो इसी नाम की आड़ में व्यंग्य और हास्य में खरी-खरी बातें सुनाने

की सोची गई। स्वर्गीय माथुर चाचा के सम्पादन काल में दस पाँच टिप्पणियाँ लिखी भी गईं और उन के व्यक्तिगत दिलचस्पी के कारण 'जयाजी प्रताप' में प्रकाशित भी हो गईं। किन्तु दुर्भाग्य-वश माथुर चाचा का असमय ही में देहान्त होजाने के कारण मेरे प्रोत्साहन का स्रोत अवरुद्ध होगया और मियाँ 'सादुल्ला' मेरे मस्तिष्क के कैदखाने में बंद होकर ही रह गए। यद्यपि यह आशा भी नहीं रही थी कि मियाँ 'सादुल्ला' इस जीवन में कभी उस कैद से रिहाई पा सकेंगे—फिर भी वह राजनीतिक नेताओं की तरह कैद में भी अपना ताना-बाना पूरते ही रहे और २०-२५ वर्ष की कैद भुगतने के बाद ग्वालियर से साप्ताहिक-पत्र 'जीवन' के प्रकाशित होने की खबर पाकर मियाँ सादुल्ला को जो जोश आया तो एक बारगी जेल तोड़कर निकल भागे एवं 'जीवन' के पृष्ठों में "सादुल्ला की खरी खरी" शीर्षक में लिखी गईं इस संग्रह की चिट्ठियों के विधाता के रूप में नज़र आने लगे।

ये चिट्ठियाँ शुरू में ऐसी भाषा में लिखी गई थीं जिसे दिल्ली रेडियो वाले हिन्दुस्तानी कहते हैं और जिसे अरबी-फ़ारसी के क्लिष्ट शब्दों को अपनाने की काफ़ी छूट रहती है। किन्तु इस पुस्तकाकार संग्रह में प्रकाशकों की इच्छा के अनुसार भाषा में परिवर्तन करके हिन्दी शब्दों का भी प्रयोग किया गया है और क्लिष्ट अरबी-फारसी के कुछ शब्दों को यथा सम्भव सरल कर दिया गया है। यद्यपि मैं इस संग्रह की भाषा को ऐसा रूप देना चाहता था, जिसे गर्व के साथ हिन्दी कहा जा सके, परन्तु सात वर्ष के लम्बे अरसे से गंभीर रोग से ग्रस्त रहने के कारण आज वैसी शक्ति शेष नहीं है। यदि रोग ने अगले किसी प्रकाशन तक जीवित रहने का अवसर दिया, तो फिर इस दिशा में कुछ उद्योग कर देखूँगा।

मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि मूल रूप में मैंने इन चिट्ठियों को अपनी मातृ-भाषा हिन्दी में न लिखकर ठेट उर्दू भाषा में कारण वश ही लिखा है। वैसे मैं हिन्दी और उर्दू में कोई अन्तर नहीं मानता। उर्दू को मैं विदेशी वेश-भूषा और ईरानी अलंकारों से अलंकृत हिन्दी का ही एक रूप मानता हूँ। फिर भी मेरा कर्त्तव्य था कि मैं अपनी मातृ-भाषा को भारतीय वेश-भूषा और अलंकारों से ही सजाता। पर बात असल में 'लगाम के लिए घोड़ा खरीदने' जैसी हुई। अपने शहर ग्वालियर में खरी कहने के धनी-धोरी (साहित्यिक भाषा में 'प्रतीक' कहिए) "सादुल्ला" के नाम और उनके विषय में प्रचलित "खरी बात सादुल्ला कहै। सबके मन से उतरा रहै" की कहावत के प्रयोग करने के लोभ को मैं न रोक

सका। सादुल्ला की चिट्ठी में हिन्दी-भाषा का प्रयोग लोगों को 'अध्यापक जहूर बख्श और श्री अख्तर हुसैन रायपुरी जैसे मुस्लिम हिन्दी-सेवकों के होते हुए भी आज की मनोवृत्ति के अनुसार अस्वाभाविक ही जँचता, इसलिए 'सादुल्ला' के नाम के साथ मेल मिलाने के लिए उनके नाम से लिखी गई चिट्ठियों में मैंने उर्दू-भाषा का प्रयोग करना ही उचित समझा। यही इन चिट्ठियों के जन्म, विकास और प्रकाशन की कहानी है।

जिन भले मानसों की कृपा-करामात से कोई कार्य पूरा हो जाय उनको अन्त ही में याद करने की पुरानी परिपाटी है। इसलिए यदि मैं भी अपने सहृदय सहायकों का अन्त ही में स्मरण करूँ तो कोई जुर्म न होगा। मैं स्वर्गीय माथुर चाचा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना आवश्यक समझता हूँ जिन्होंने मुझे प्रारम्भ में रास्ता दिखाया। 'जीवन' के सम्पादक भाई जगन्नाथप्रसाद जी मिलिन्द का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके प्रोत्साहन से इन विचारों को मूर्त्त रूप मिला। मेरे साथ साथ मेरे पाठकों को भी इन चिट्ठियों को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने के लिए पूर्ण रूप से "विद्यामन्दिर-प्रकाशन" का आभारी होना चाहिए, अन्यथा मेरे मस्तिष्क में तो इनके पुस्तकाकार प्रकाशन की कोई कल्पना भी नहीं थी।

यह अपनी बात समाप्त करने के पहले मैं पाठकों से यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि इस पुस्तक के लेखन में किसी किरणविहारी दिनेश का हाथ है इसे वे बिलकुल भूल जाएँ। पुस्तक पढ़ते समय तो उन्हें यही स्मरण रखना चाहिए कि ये सब चिट्ठियाँ मियाँ सादुल्ला ही की लिखी हुई हैं। तभी उन्हें इनसे पूरा पूरा मनोरंजन प्राप्त होगा। यही बात स्मरण दिलाते रहने के लिए प्रकाशक महोदय ने इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर मियाँ सादुल्ला, उनके जिगरी दोस्त शेख बजर बट्टू या परम मित्र पं० लाल बुझक्कड़ का चित्र दे दिया है।

रोग-शय्या,
जय-आरोग्य अस्पताल
ग्वालियर १-१-४८

किरणविहारी दिनेश

	प्रकाशक की ओर से	क
	परिचय (ले०—श्री० जगन्नाथ प्रसाद "मिलिन्द") ...	ग
	अपने मुँह अपनी बात	छ
१	दो दोस्तों की दास्तान	१
२	छत्तीस घण्टों की बादशाहत	६
३	मेम्बरी के मजनूँ	१४
४	विलायती हँसी के शिकार	२१
५	बीबी सल्लामलेक	२६
६	एडीटर की कुर्सी या सिंहासन-बत्तीसी	३२
७	अहमक नम्बर एक	३८
८	अनाड़ी मजिस्ट्रेट	४१
९	मेले की सैर	४५
१०	सीटी बजगई	५५
११	पाँचवें सवारों की भरमार	५८
१२	'सण्टी-मुर्गा-ट्रेनिंग' जिन्दाबाद	६०
१३	चौकड़ी	६४
१४	कॉमरेड की मुलाक़ात	७०
१५	एक—दो—तीन	७३
१६	बीवीयाँ शौहर बनेंगी और शौहर.....	८१
१७	आम-फहम भाषा डिक्शनरी	८७
१८	रेडियो की हिन्दी में	९८

शहर का अँदेशा

खरी बात साढ़ुल्ला कहें ।
सब के मन से उतरे रहें ॥

दो दोस्तों की दास्तान

हमारे डबल साले साहब ने यानी साले के साले साहब ने या यों कहिए कि हमारी बेगम साहबा के भाई की बीबी के भाई साहब ने हमें अपने दो दोस्तों की एक मनोरंजक आपबीती सुनाई। नामों से कोई मतलब नहीं। आप रख लीजिए एक का नाम मियाँ चिथड़ू और दूसरे का नाम मियाँ चमारू।

अकबर साहब ने एक शेर शायद यूँ कहा था :—

बूट डासन ने बनाया,
मैंने एक मजमूँ लिखा ;
मुल्क में मजमूँ न फैला,
और जूता चल गया।

बस इस शेर में उनकी कहानी का सार आजाता है। फिर भी विस्तार से बयान करता हूँ।

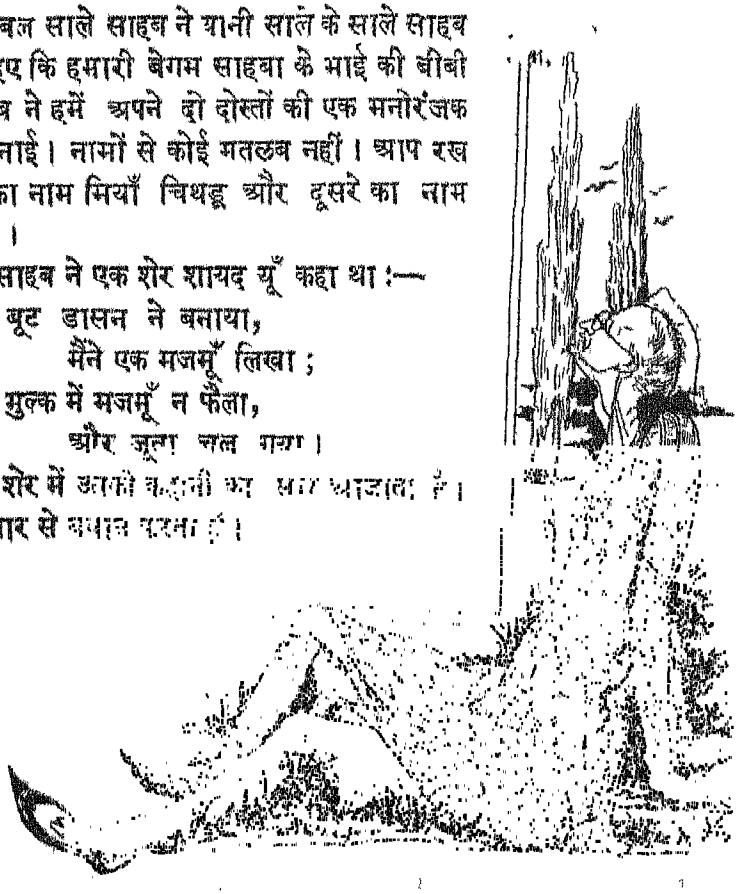

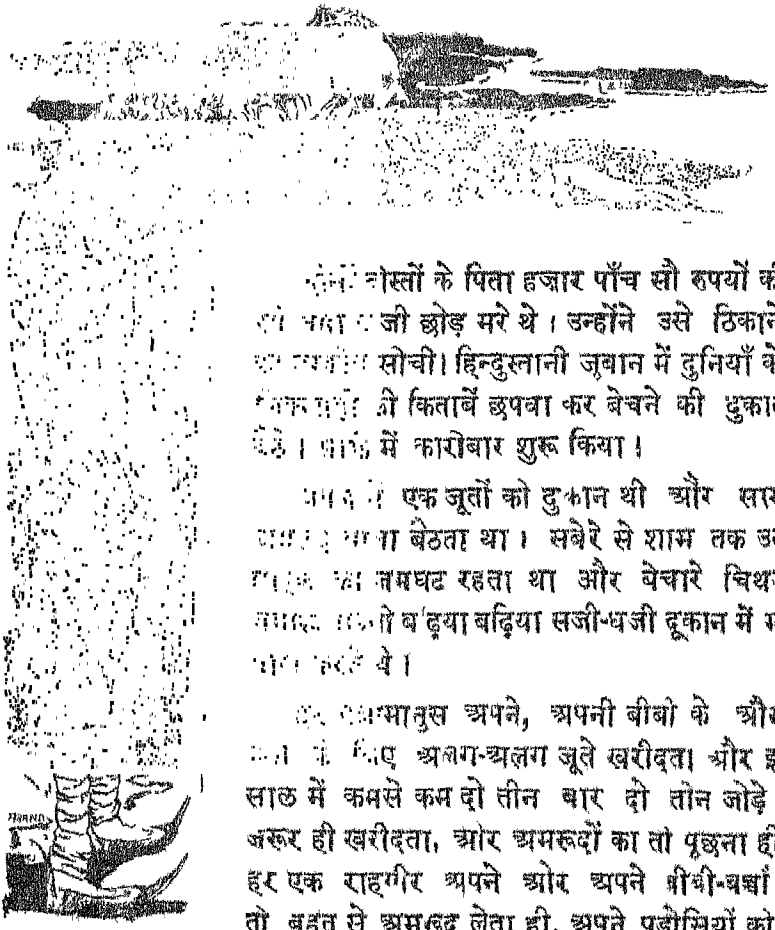

[illegible] दोस्तों के पिता हजार पाँच सौ रुपयों की छोटी-[illegible] जी छोड़ मरे थे। उन्होंने उसे ठिकाने लगाने [illegible] सोची। हिन्दुस्तानी ज़बान में दुनियाँ के मशहूर [illegible] की किताबें छपवा कर बेचने की दुकान खोल [illegible]। [illegible] में कारोबार शुरू किया।

[illegible] एक जूतों की दुकान थी और सामने एक [illegible] बैठता था। सबेरे से शाम तक उनके यहाँ [illegible] जमघट रहता था और बेचारे चिथड़ू और [illegible] बढ़िया बढ़िया सजी-धजी दूकान में मक्खियाँ [illegible] थे।

[illegible] आदमी अपने, अपनी बीबी के और अपने [illegible] के लिए अलग-अलग जूते खरीदता और इस तरह साल में कमसे कम दो तीन बार दो तीन जोड़े जूते तो जरूर ही खरीदता, और अमरूदों का तो पूछना ही क्या! हर एक राहगीर अपने और अपने बीबी-बच्चों के लिए तो बहुत से अमरूद लेता ही, अपने पड़ोसियों को बाँटने को भी अलग-अलग अमरूद खरीदता और नक़द दाम देकर खरीदता।

किताबें पहले तो कोई खरीदता ही नहीं; और अगर कोई भूखे गलती से एकाध किताब खरीद ही बैठा तो

दो दोस्तों की दास्तान

शहर का अँदेशा

उसका पूरा मुहल्ला बल्कि पूरा शहर उसी एक किताब से अपना शौक़ पूरा कर लेना चाहता, मानो दुनियाँ में उस किताब की केवल एक प्रति ही छपना बहुत था और उसे भी मुफ्त ही में हाथों-हाथ सारी दुनियाँ की सैर करके अपने छपाने वाले के पास वापस आ जाना चाहिए था और लौट कर जूतों और अमरूदों के भाग्य से डाह करना चाहिए था या अपने भाग्य को रोना चाहिए था।

इस देश के कुछ हिस्सों में यह रिवाज है कि एक बहुत बड़ी पूरी हवेली में सिर्फ एक पाखाना बनवा लेना काफी समझा जाता है और उस पाखाने में ले जाने को सिर्फ एक पंचायती टीन-पॉट सब रहने-वालों के बारी-बारी से उपयोग करने के लिए रखा जाता है और दूसरा टीन-पॉट तब तक हर्गिज नहीं खरीदा जाता जब तक उसमें दस बीस काफी बड़े बड़े छेद न हो जाएँ। किताबें खरीदने के मामले में हिन्दुस्तानियों की, पढ़े-लिखे और अमीर हिन्दुस्तानियों की भी ऐसी ही कंजूसी देखी जाती है।

अतएव चिथरू-चमारू एण्ड को० के किताबों के रोजगार को हिन्दुस्तानी पढ़ने वालों की माँग कर पढ़ने की आदत ने ठप कर दिया।

भैया जरा चलते पुर्जे थे, उन्होंने देश-सेवा का
र जूतों की दुकान खोल ली और चन्द दिनों
ए। चिथड़ू धुन के पक्के तो थे, मगर कुछ
उन्हें आखिर तक अमरूद की दुकान खोलने
और वह बिल्कुल भूखों मरने की नौबत आने
बेचने के धन्धे के मैदान में ही डटे रहे। जब एक
हो गई, तब झख मारकर वह बेचारे सड़क को
। वाले बे-मुल्क नवाबों में यानी भिखमंगों में
ए। बढ़िया-बढ़िया किताबें छापकर देश की
पाने के सदमे से उनके दिमाग में कुछ गड़बड़ी
गई।

बल साले साहब ने हमको बताया कि आज-कल उनके वह दोस्त रेल-गाड़ियों में चलते फिरते और गाते-बजाते भीख माँगते रहते हैं। किसी तरह जी लेते हैं। परन्तु उनमें एक बेढब सनक पाई जाती है। जब किसी मुसाफिर को किसी स्टेशन पर हॉकर से कोई अखबार या किताब खरीदते देखते हैं तो बहुत खुश होते हैं। किन्तु यदि कोई मुसाफिर किसी दूसरे मुसाफिर से उसकी खरीदी हुई किताब या अखबार माँगकर पढ़ने को लेता है तो उनकी आँखों में खून उतर आता है और वह उसके

मुँह पर बेतहाशा तड़ातड़ अपना डेढ़ फुट का फटा-पुराना चमरौधा जूता जड़ने लगते हैं। कई बार गिरफ्तार होकर जेलों या पागलखाने की हवा खा चुके हैं, परन्तु यह सनक, यह लत नहीं छूटती।

आप अपने मित्रों को जता दीजिए कि यदि उनमें से कोई कभी रेल में सफर करते हुए चिथड़ू भैया को, एक अजीब से पढ़े-लिखे, फटे हाल गाने बजाने वाले सनकी भिखारी को देख पाएँ तो उसके सामने किसी मुसाफिर से माँगकर अखबार या किताब पढ़ने की भूल कदापि न करें, नहीं तो वे तुरन्त ही एक बड़ी अपमान-जनक दुर्घटना के शिकार हो सकते हैं।

!!!

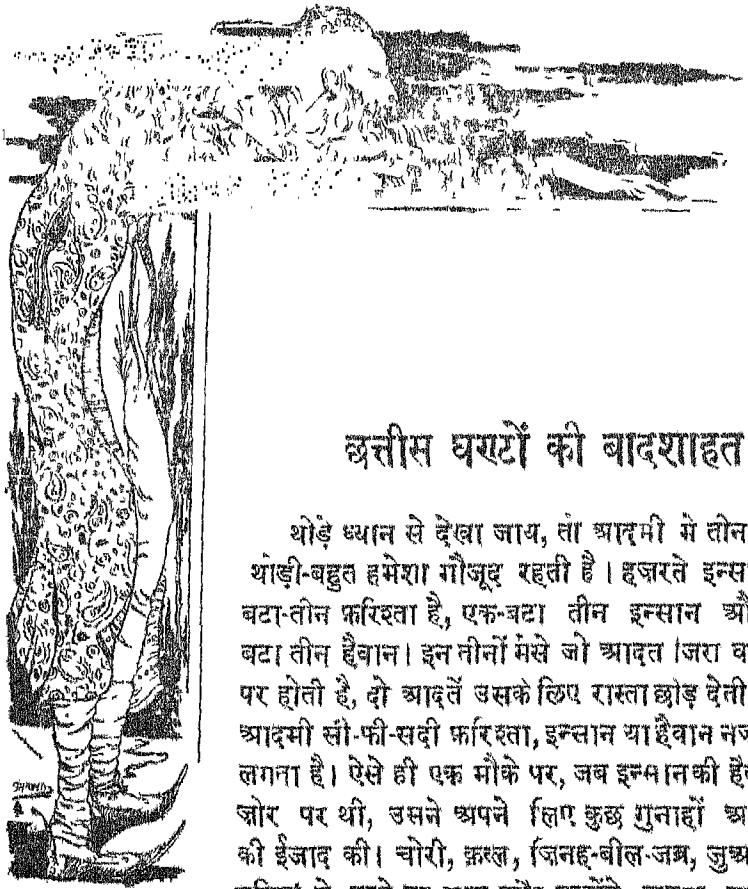

छत्तीस घण्टों की बादशाहत

थोड़े ध्यान से देखा जाय, तो आदमी में तीन आदतें थोड़ी-बहुत हमेशा मौजूद रहती हैं। हजरते इन्सान एक-बटा-तीन फ़रिश्ता है, एक-बटा तीन इन्सान और एक-बटा तीन हैवान। इन तीनों में से जो आदत जरा वक्त जोर पर होती है, दो आदतें उसके लिए रास्ता छोड़ देती हैं और आदमी सौ-फी-सदी फ़रिश्ता, इन्सान या हैवान नजर आने लगता है। ऐसे ही एक मौके पर, जब इन्सान की हैवानियत जोर पर थी, उसने अपने लिए कुछ गुनाहों और जुर्मों की ईजाद की। चोरी, क़त्ल, जिनह-बील-जब्र, जुआ वग़ैरा दुनिया के परदे पर आए और उन्होंने अपना नङ्गा नाच दिखलाया। थोड़े वक्त के बाद ही इन्सान की इन्सानियत ने जोर मारा और उसने इन गुनाहों पर परदा डाल कर उन्हें बड़ी सफ़ाई के साथ जिन्दगी के अँधेरे कोने में छिपा दिया। उसके बाद आदमी के भीतर छिपा हुआ फ़रिश्ता

जागा, और वह इन गुनाहों का नामोनिशान तक मिटाने पर उतारू हो गया।

आखिर गुनाह भी तो हजरते इन्सान ही की ईजाद थे। वे अँधेरे में छिपे-छिपे और ये बेजा हमले बरदाश्त करते-करते तंग आ गए, उनमें क्रान्ति की एक लहर पैदा हो गई और उन्होंने अपनी जिन्दगी और अपने हक़ों को हमेशा के लिए और खुले तौर पर सुरक्षित कराने के लिए इन्सानों की सोसाइटी के क़ानून बनाने वाले आलिम बुजुर्गों के पास डेपूटेशन के जुलूस की शक्ल में जाना तय किया।

नानी की यह कहानी यों आगे बढ़ती है कि जुर्मों और गुनाहों का एक बहुत बड़ा जुलूस 'चोरी जिन्दाबाद, खून जिन्दाबाद, जुआ जिन्दाबाद, जिनहा-बिल-जब्र जिन्दाबाद' के नारे लगाता हुआ बड़े जोश के साथ इन्साफ़ के दफ्तर के दरवाजे की तरफ एक बढ़ती हुई नदी की तरह बढ़ने लगा। अपनी माँगे उन्होंने कानून बनाने वाली कमेटी के सामने पहले से इस शक्ल में भेज दी थी कि ३६० दिनों में से कम-से-कम ३६ दिन यानी १० फ़ी-सदी के हिसाब से उन्हें भी जिन्दा रहने और खूब खुलकर खेलने का हक़ हमेशा के लिए और क़ानूनी तौर पर दे दिया जाय।

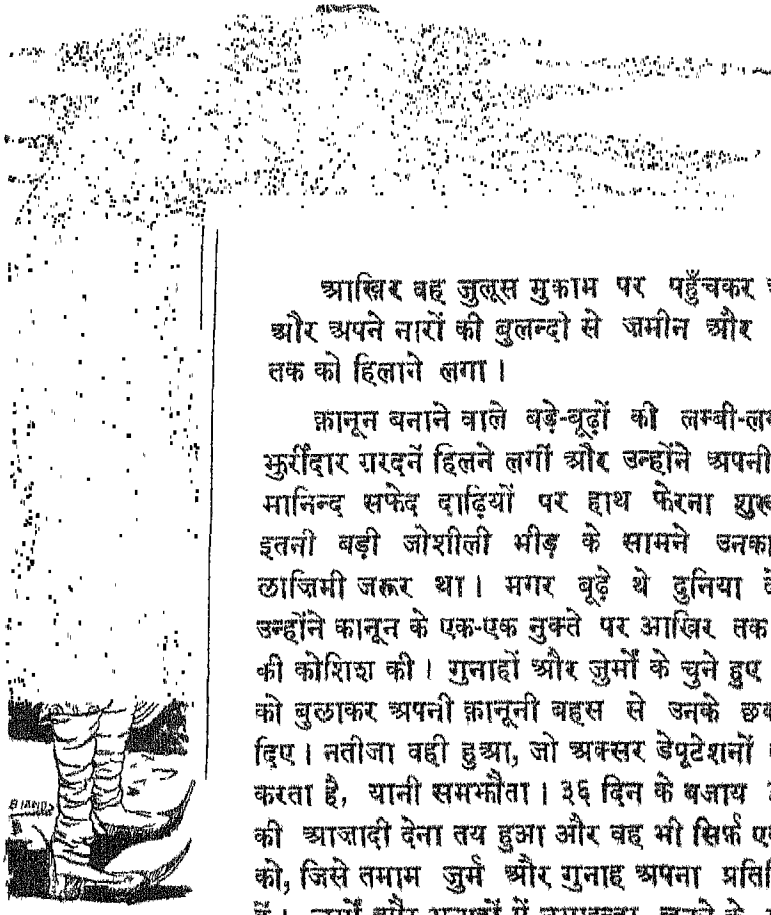

आखिर वह जुलूस मुकाम पर पहुँचकर अड़ गया और अपने नारों की बुलन्दी से जमीन और आसमान तक को हिलाने लगा।

क़ानून बनाने वाले बड़े-बूढ़ों की लम्बी-लम्बी और झुर्रीदार गरदनें हिलने लगीं और उन्होंने अपनी बर्फ़ के मानिन्द सफ़ेद दाढ़ियों पर हाथ फेरना शुरू किया। इतनी बड़ी जोशीली भीड़ के सामने उनका झुकना लाजिमी जरूर था। मगर बूढ़े थे दुनिया देखे हुए। उन्होंने कानून के एक-एक नुक्ते पर आखिर तक डटे रहने की कोशिश की। गुनाहों और जुर्मों के चुने हुए नुमाइन्दों को बुलाकर अपनी क़ानूनी बहस से उनके छक्के छुड़ा दिए। नतीजा वही हुआ, जो अक्सर डेपूटेशनों का हुआ करता है, यानी समझौता। ३६ दिन के बजाय ३६ घण्टे की आजादी देना तय हुआ और वह भी सिर्फ़ एक गुनाह को, जिसे तमाम जुर्म और गुनाह अपना प्रतिनिधि चुन दें। जुर्मों और गुनाहों में नुमाइन्दा चुनने के मसले पर बड़ी गर्म गर्म बहस हुई, आपस में एक-दूसरे पर खूब कीचड़ उछाली गई, सड़े अण्डे तक फेंके गए। जुए ने कहा कि उसे दिवाली पर खुली छुट्टी मिलनी चाहिए; खूंरेजी ने कहा कि उसे दशहरे पर, व्यभिचार और चोरी ने कहा कि

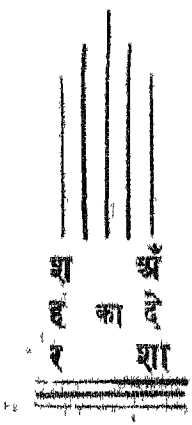

उन्हें होली पर। लेकिन, आखिर, इत्तफ़ाक़ राय से हज़रते जुआ को क़ानूनी छूट लेने के लिए प्रतिनिधि चुना गया, क्यों कि उनके अन्दर सारे जुर्मों और गुनाहों ने अपनी ख़सलतों के घुसने की गुंजाइश देखी और उन्हें सबसे ज्यादा साफ़-सुथरा, चुस्तो दुरुस्त, बाअदब, मक़बूले आम और मजलिसी तौर तरीकों से अच्छी तरह वाक़िफ़ पाया। क़ानून बनाने वालों ने प्रतिनिधि साहब यानी जुए को अपनी पसन्द के कोई भी ३६ घण्टे चुन लेने का अख़्तियार दिया और उन्होंने क़ुदरती तौर पर लक्ष्मी के त्यौहार दिवाली की रात से दूज के सुबह तक का वक्त चुन लिया।

बस, जनाब तभी से जुए ने हमारी सोसायटी पर वह चढ़ी गाँठी है कि सैकड़ों बरसों में ज़रा-भी टस से मस नहीं हुआ। और क़ानून बनाने वालों का तो स्वभाव ही अड़ियल टट्टू की तरह होता है। वे क़ानून में एक नुक़्ते की तब्दीली करने के पहले हज़ार दफ़ा ही नहीं, लाख दफ़ा सोचा करते हैं और बहुत बड़ा आन्दोलन पैदा हुए बिना वे सोचना भी शुरू नहीं करते।

नानी की कहानी [illegible] दिवाली पर जुए के [illegible] वर्णन किये बिना हमारी कहानी [illegible]

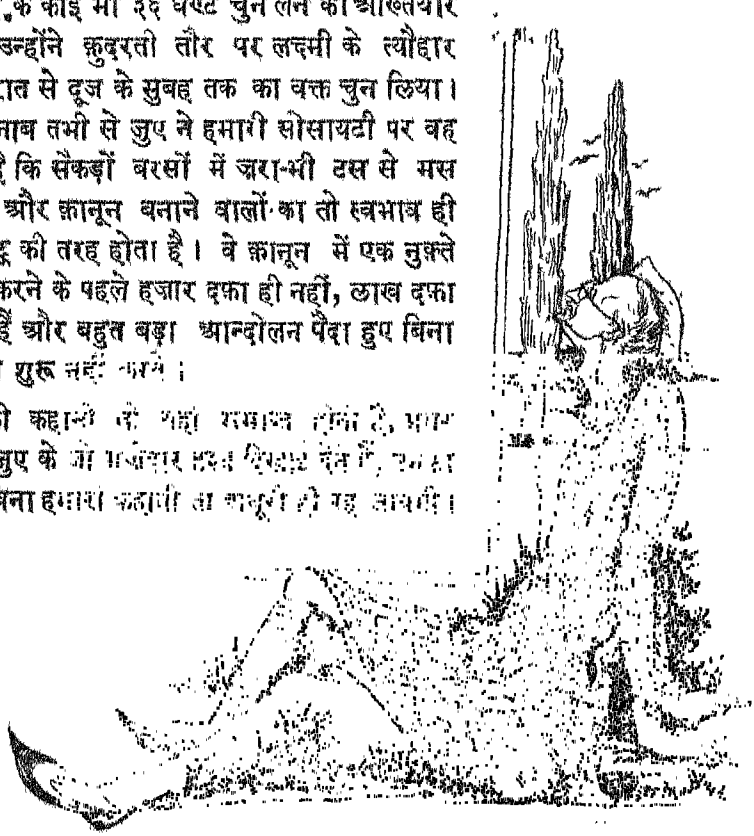

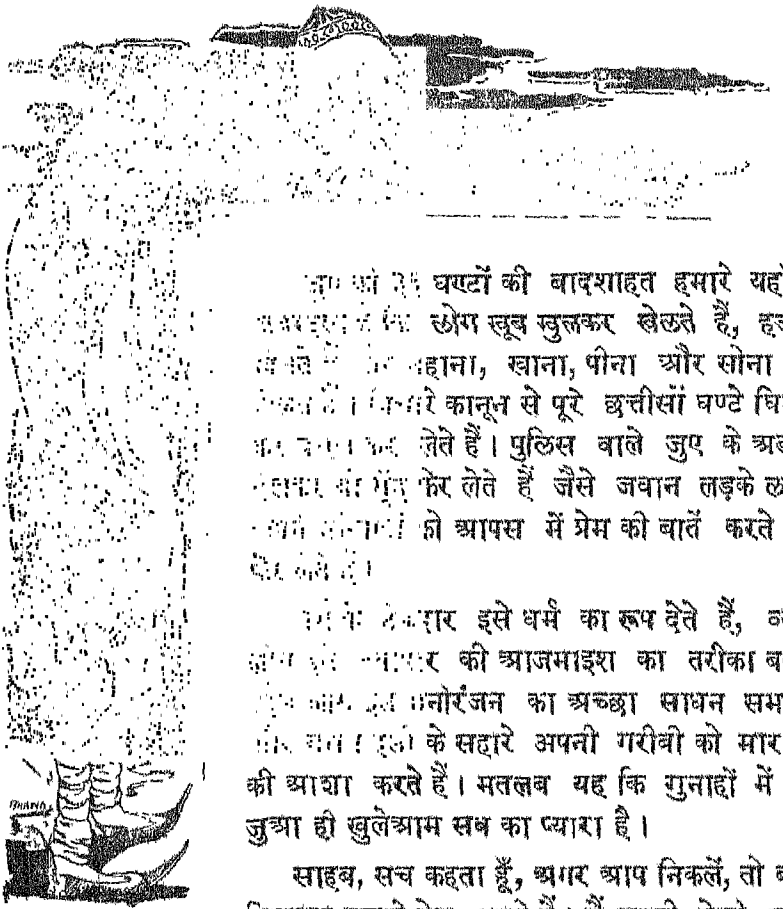

[illegible] घण्टों की बादशाहत हमारे यहाँ इतनी [illegible] लोग खूब खुलकर खेलते हैं, हजारों से [illegible] नहाना, खाना, पीना और सोना भूलकर [illegible]। [illegible] कानून से पूरे छत्तीसों घण्टे घिस-घिस [illegible] लेते हैं। पुलिस वाले जुए के अड्डों को [illegible] फेर लेते हैं जैसे जवान लड़के लड़कियाँ [illegible] को आपस में प्रेम की बातें करते देखकर [illegible]।

[illegible] इसे धर्म का रूप देते हैं, व्यापारी [illegible] की आजमाइश का तरीका बताते हैं, [illegible] मनोरंजन का अच्छा साधन समझते हैं [illegible] के सहारे अपनी गरीबी को मार भगाने की आशा करते हैं। मतलब यह कि गुनाहों में अकेला जुआ ही खुलेआम सब का प्यारा है।

साहब, सच कहता हूँ, अगर आप निकलें, तो बड़े-बड़े दिलचस्प नजारे देख सकते हैं। मैं अपनी देखी हुई कुछ बातें व सुने हुए कुछ किस्से सुनाता हूँ।

एक मालकिन ने शॉफर से फरमाइश की कि सैर के लिए मोटर निकालो। शॉफर ने मोटर-गेरेज का फाटक जो जरा खोला, तो अन्दर रोशनी की जगमगाहट देखी और

मोटर की जगह मालिक और उनके दोस्तों को जुआ खेलते पाया। एक नामी गिरहकट के दरवाजे से एक अफसर जो निकले और उन्होंने यूँ ही जरा दरवाजा जो खटखटाया तो चन्द छुट्टी वाले सिपाहियों को घर के अन्दर जुए से दिवाली मनाते देखकर उन्हें एक हल्की हँसी हँसनी पड़ी। एक विद्यार्थी जो एक प्राइवेट स्कूल मे अपनी किताब भूल आया था, उधर से जो निकला तो उसने अपने सफेद दाढ़ी वाले उस्ताद को एक अफीमची के साथ स्कूल ही में जुआ खेलते देखा। एक सेठ साहब जो अपने कोठे से दूकान की चाबी लेने नीचे उतरे, तो उन्होंने अपने मुनीम को अपने दोस्तों से जुआ खेलते देखा। कुछ शरीफ लड़कों के बाप लोग जब उन्हें दिवाली पूजा के लिए ढूँढ़ने निकले, तो उन्हें उन्होंने एक जुएबाज के फड़ के तख्त के नीचे छिपा पाया।

एक जवान लड़का, जब अपने बुजुर्ग बाप का, जो दिन में तीन बार पूजा करते थे, आशीर्वाद लेने गया तो देखा कि वह अपने भँगेड़ी दोस्तों के साथ जुआ खेल रहे हैं। एक डाक्टर जब सख्त मरीज की इत्तला पाकर जुए-बाजी छोड़कर निकले तो राह में उन्होंने अपने कुछ कम्पाउन्डरों को चंडाल-चौकड़ी में खेलते पाया। कहाँ

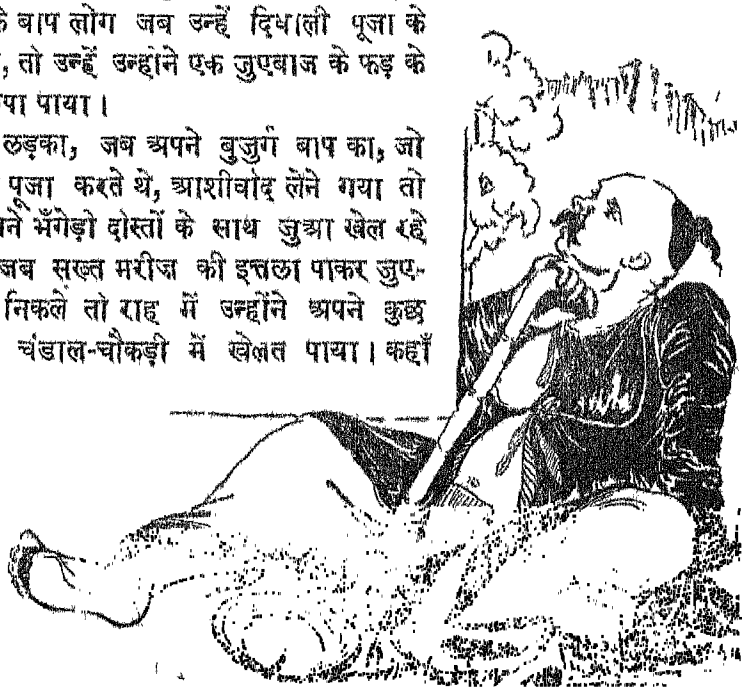

बड़े दिलचस्प नजारे नजर आते हैं
किस्से सुने जाते हैं।

इधर दो चार सालों से एक और शगूफा नजर आने लगा है। चन्द जगहों की सार्वजनिक सभाएँ जुए की इस ३६ घण्टे की बादशाहत को कुछ कमजोर करने की कोशिश करने लगी हैं। उनके वालंटियर खुदाई फौजदारों की तरह जुएबाजों की नादिरशाही में दखल देते पाए जाते हैं। 'जुएबाजी का नाश हो, जुआ खेलना पाप है, जुएबाजी हाय-हाय, जुआ शहर का कलङ्क है, जुआ चोरी की जड़ है' उनके कुछ खास नारे हैं, जिन्हें वे पूरे छत्तीस घण्टों तक भोंपुओं से शहर में और जुएबाजों के कानों में गुँजाया करते हैं। मगर वाह रे जुएबाजो, टस-से-मस होना किसे कहते हैं और वाह रे क़ानून, कान पर जूँ तक रेंगना नामुमकिन है!

यों तो कई देशी रियासतें, अपनी हुकूमत को कई मामलों में ब्रिटिश हिन्दुस्तान से भी आगे बढ़ी हुई बताती है, मगर जुएबाजी के कानून में दिवाली के मौके की छूट पैदा कर देना और उसे राजा नल और युधिष्ठिर के जमाने से आज तक ज्यों-की-त्यों क़ायम रखना इनकी खास तरक्की-पसन्दी है। तभी तो देशी रियासतें ब्रिटिश हिन्दुस्तान से

ज्यादा मालामाल हैं। अंग्रेज लोग इस मुल्क में परदेशी हैं, लिहाजा उनका कानून पब्लिक के लिए बेमुरव्वत पाया जाता है। उन्होंने सती जलाना बन्द किया, जुएबाजी बन्द की और न जाने कितनी पुरानी और बढ़िया चीजें खतम कर दीं। मगर देशी रियासतों की हुकूमत तो देशी हुकूमत है। कानून बनाने वाले रहमदिल-बुजुर्गों को सबका खयाल रखना पड़ता है और जब तक आदमी में एक-बटा-तीन हैवानियत मौजूद है, और जब तक उस हैवानियत में मौके-ब-मौके जोर पकड़ने की आदत है और ज्यादातर रिआया इन्सान है, तब तक इन्सानियत के नाते ३६ घण्टों के लिए हर साल जुएबाजी के ये मदरसे खोलना कानून का लाजिमी फ़र्ज़ है।

जरा सोचिए तो सही। जुए की यह छूट क़ानून से निकलते ही चूल्हे की जड़ तक न हिल जायगी। इन छत्तीस घण्टों के अन्दर जुए की गंगा में बड़े-बड़े असनान करते पाये जाते हैं। उन सब की सिफारिशें क़ानून बनाने वालों की क़लम पर अलीगढ़ का १० लीवर का ताला डाल देंगी और अगर उन्होंने इस छूट को काट देने की हिमाकत की तो हजरते आदम की जब बुजुर्ग औलादों की बर्फ जैसी सफ़ेद दाढ़ियों के एक-एक बाल की खैर नहीं।

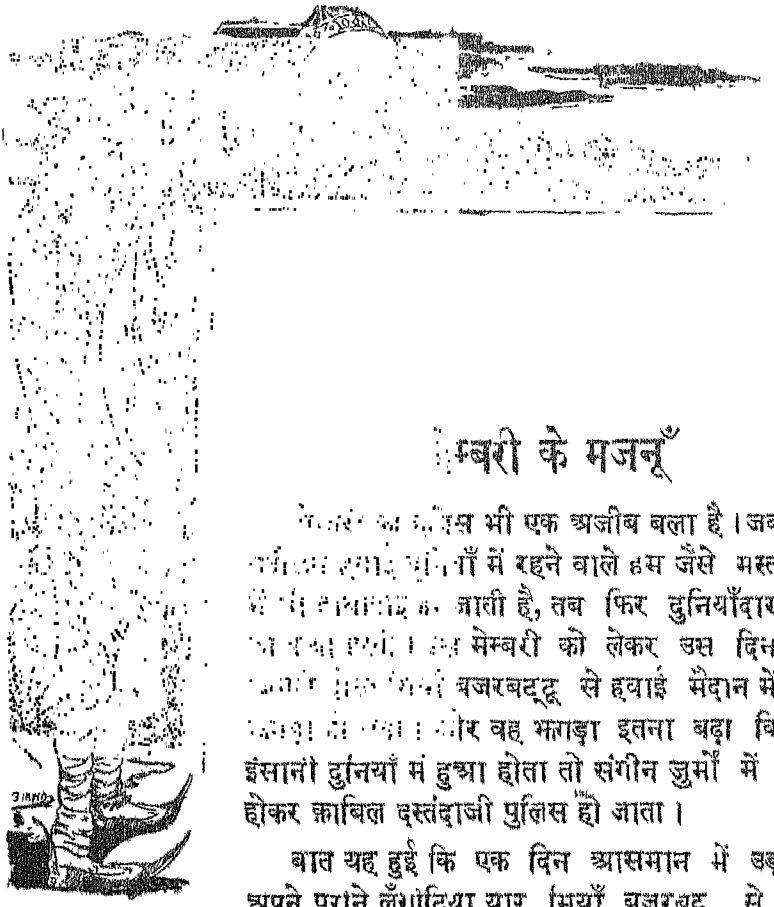

म्बरी के मजनूँ

[illegible] भी एक अजीब बला है। जब इसकी [illegible] में रहने वाले हम जैसे मस्त लोगों [illegible] जाती है, तब फिर दुनियाँदार लोगों [illegible] मेम्बरी को लेकर उस दिन अपने [illegible] बजरबट्टू से हवाई मैदान में हमारा [illegible] और वह झगड़ा इतना बढ़ा कि अगर इंसानी दुनियाँ में हुआ होता तो संगीन जुर्मों में दाखिल होकर क़ाबिल दस्तंदाजी पुलिस हो जाता।

बात यह हुई कि एक दिन आसमान में उड़ते हुए अपने पुराने लँगोटिया यार मियाँ बजरबट्टू से हमारी मुलाकात होगई। जिक्र चलते चलाते असेंबली के मेंबरों की बात चल पड़ी। इस मामले में ईजानिब की अक्ल कुछ उलझन में पड़ी हुई थी। सोचा कि इन मियाँ से ही अपनी उलझन को दूर कर लिया जाय। हम पर कंबख्ती

जो सवार हुई तो हम मेम्बरी का झमेला उनके सामने पेशकर बैठे। हमने पूछा भाई बजरबट्टू, आजकल सत्यमूर्ति साहब के जेल से बाहर आते ही कांग्रेसी मेम्बरों पर यह कौन भूत सवार हो गया है कि जिस असेंबली की मेम्बरी को बेकार समझ कर अलबिदा कह आए थे, अब बिना किसी तबदीली के उसी की तरफ भागते-से जारहे हैं। दोस्त बजरबट्टू ने कहा कि जंगल में एक जानवर रहता है। उसे बोलना न आता हो ऐसी बात नहीं है। लेकिन वह 'डिसीप्लिन' का बड़ा पक्का होता है। जब तक उनका लीडर चुप रहता है, क्या मजाल कि कोई चूँ कर जाए और जहाँ उनके लीडर ने ऊपर को मुँह उठा कर 'ओ हुआ' की आवाज लगाई कि फिर देखिए, उनमें से हर एक जहाँ तक उनके लीडर की आवाज पहुँचेगी 'हुआ, हुआ' चिल्लाने लगेगा। क्या हुआ और क्या नहीं, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं। चूँकि उनपर उस वक्त बकवास सवार होती है, इसलिए वे आँख बंद करके अपने लीडर की आवाज को दुहराने से अपने आपको रोक नहीं सकते। जहाँ लीडर ने 'हुआ' कहा कि नदी से, नाले से, खेत से, खलिहान से, जो जहाँ होता है वहीं से 'हुआ, हुआ' चिल्लाने लगता है। बहुतेरों पर तो इस बकवास का जोश

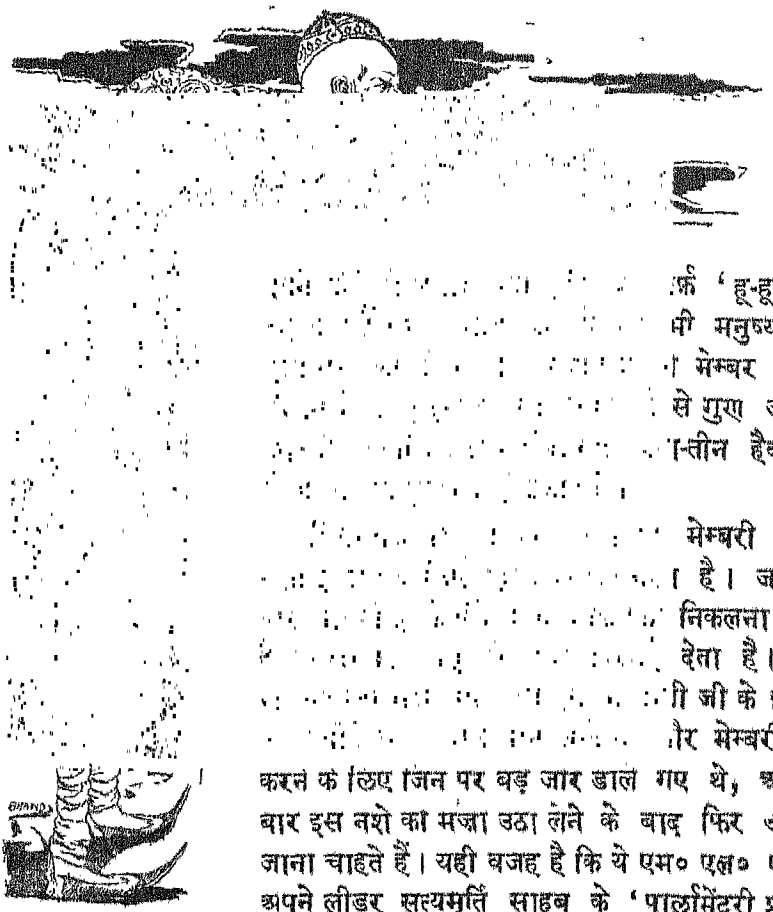

र्फ 'हू-हू' करके
भी मनुष्य के लिए
। मेम्बर होते ही
से गुण जोर मार
ा-तीन हैवान भी
।

मेम्बरी का यह
। है। जहाँ एक
निकलना मुश्किल
देता है। देखिए
ी जी के क़दम-ब-
ौर मेम्बरी मंजूर करने के लिए जिन पर बड़ जोर डाले गए थे, अब एक बार इस नशे का मज़ा उठा लेने के बाद फिर उधर ही जाना चाहते हैं। यही वजह है कि ये एम० एल० ए० लोग अपने लीडर सत्यमूर्ति साहब के 'पार्लामेंटरी प्रोग्राम' की आवाज लगाते ही उसे बेतहाशा दुहराने लगे हैं। पहले किसी की हिम्मत गाँधी जी से यह कहने की नहीं पड़ रही थी कि हम असेंबली में फिर जाना चाहते हैं, लेकिन अपने लीडर की आवाज पर हर कांग्रेसी सूबे से

खबर आरही है कि उस सूबे के सौ-फीसदी एम० एल० ए० फिर से असेंबली में जाने की आवाज उठा रहे हैं।

सच कहता हूँ, बजरबट्टू को इस बात पर ईजानिब को बड़ा ताव आया। ईजानिब भी एक जमाने में एक मेम्बरी के ओहदे पर विराजमान थे। तो इस बजड़ू ने सीधे तौर पर या चक्कर से कैसे भी सही, हमारा भी अपमान कर दिया और वह भी हमारे ही मुँह पर। बस हाथापाई होती तो गई और यह झगड़ा बहुत बढ़ जाता, अगर बीच में पंडित लालबुझक्कड़ साहब न आगये होते। उन्होंने हम दोनों को डाटा और कहा कि यह क्या मेम्बरी के उम्मीदवारों की तरह आपस में लड़ रहे हो। तुम लोगों की सांसारिक आदतें इस हवाई गिलाफ में भी मौजूद हैं। मुझे याद है कि इंसानी दुनियाँ में भी इसी तरह मेम्बरी के लिए लड़ा करते थे। क्या बात है, क्यों लड़ रहे हो?

पंडित लालबुझक्कड़ साहब को देखकर खुशी हुई, क्योंकि ऐसे मौके पर पंडित जी की राय बहुत उचित और इंसाफ की हुआ करती थी और यह और भी खुशी की बात थी कि पंडित जी इस वक्त मेम्बरी के मसले पर गौर करने लायक 'मूड' में थे।

जी, तो हमने सारा हाल बयान किया। पंडित जी ने

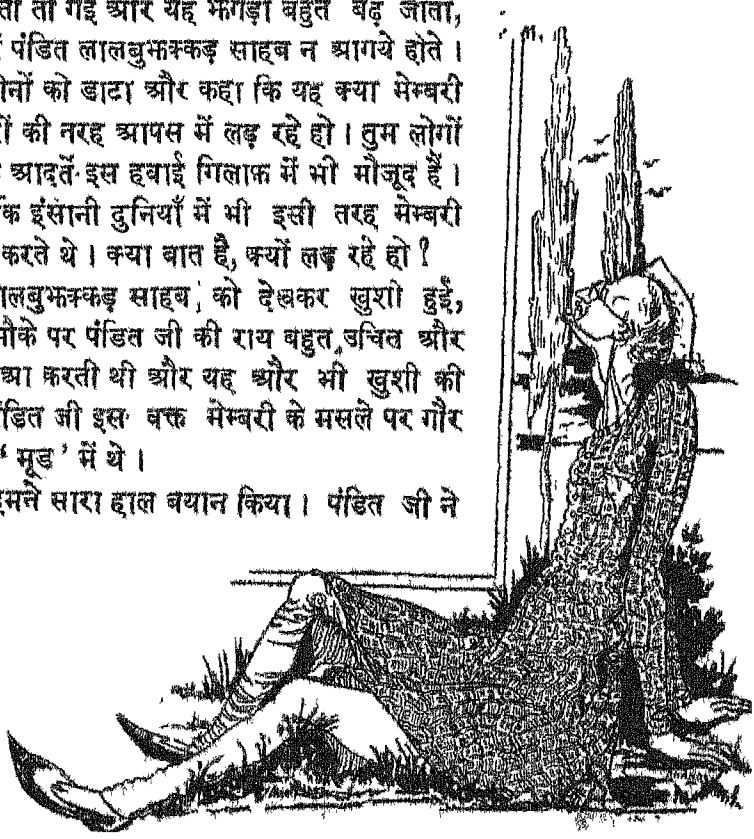

य से इत्तफाक़
जाकर गीदड़
ते इंसान में
ी में ही नहीं,
उनकी दहाड़ो
ह ये शेर छोड़े
हैं ? पंडित-
। होती है कि,
स्वाद मिल
इस बात का
या जवान
, इंसान को

देखते ही उसके मुँह में पानी भर आता है और वह इंसान पर हमला कर बैठने की कोशिश करता है। इसी तरह जिस इंसानी शेर को मेंबरी का स्वाद एक बार मिल गया कि फिर मेम्बरी के नाम से ही उसके मुँह से लार टपकने लगती है। यही हालत इस वक्त चंद लीडरों की हो रही है।

मैंने कहा—पंडित जी, फिर ये लोग बीच बीच में पार्लियामेंटरी प्रोग्राम से अलग ही क्यों होते हैं ?

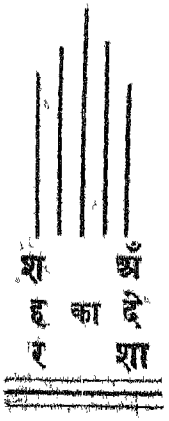

पंडित जी ने कहा कि—जब आप बम-पुलिस के महकमे के मेम्बर थे, तब आपने भी स्तीफा दिया था, यह भूल गए क्या? भाई, आपने स्तीफा इसलिए नहीं दिया था कि अब इधर रुख ही न करेंगे बल्कि इसलिए दिया था कि नए चुनाव में फिर से रंग बँध जाए। भाई मेम्बरी चीज ही ऐसी है। इंसान का काया पलट ही हो जाता है। वैसे तो हजरत इंसान जिस काम मे मुँह की खाते है उसे छोड़ कर कोइ दूसरा काम ढूँढ़ते हैं। लेकिन जिसने एक बार भी मेम्बरी का मजा चखा कि वह फिर वहीं जाकर दम लेता है, जैसे कुतुबनुमा की सुई। जिंदगी भर आप तो यही खेल खेलते रहे। स्तीफा भी दिया तो इसी गरज से कि फिर से मेम्बरी मिलने का रास्ता साफ हो जाय। असफल होने पर भी हिम्मत नहीं हारते थे, हर बार चुनाव लड़ने को कमर कसे दिखाई देते थे। जब मनुष्य का चोला छोड़ने का नौबत आई, तभी दुनियाँ की मेम्बरी से भी पीछा छूटा। लेकिन मैं देखता हूँ कि अब इस हवाई दुनियाँ में भी मेम्बर बनने की फिक्र में लगे रहते हो। लेकिन जब यहाँ कोई मेम्बरी का महकमा नहीं मिलता, तो दुनियाँ को मेम्बरी के सवाल को लेकर ही यार-दोस्तों से जूतमफाग खेला करते हो, बड़ी लज्जा की बात है।

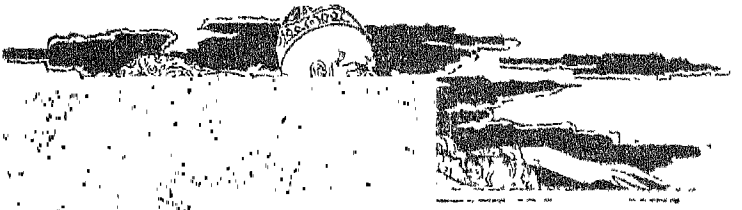

[illegible] र ही पंडित लालबुझक्कड़ की सूझ-बूझ [illegible] ड़ती है। देखिए किस खूबसूरती से गीदड़ को शेर बनाया। लेकिन अपनी राय शरीफ में तो मेम्बरी का मसला हजरते इंसान के लिए नाजुक और खतरनाक है। अगर शेर बने तो लोग कहते हैं कि डाढ़ से हराम लग गया है। तभी तो आपस में मूड़ फुटउबल कर रहे हैं, वर्ना क्या लालच है? और गीदड़ बनने को तो कहूँ ही क्या?

!!!

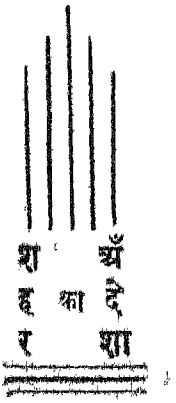

विलायती हँसो के शिकार

किसी दिन अगर यह खबर समाचार पत्रों में छपे कि किसी देश के लोगों ने एक ऐसी मशीन बनाई है जिसकी सहायता से वे सर के बल चल सकते हैं, खोपड़ी की पीठ की तरफ से देख सकते हैं और मुँह बन्द रखकर नाक से आवाज निकाल कर बोल सकते हैं, तो आपको आश्चर्य न होगा। समय की गति कुछ ऐसी ही तेज है और जमाने का रुख कुछ ऐसा ही विचित्र होता जा रहा है। हजरते इंसान खुदाई फरिश्तों का भी नाकों चने चबवा रहे हैं। तरक्की और आश्चर्यों की इस दौड़ में हमारे दादाजान ही नहीं, हम तीनों भी कभी के पिछड़ चुके हैं और बहुत पिछड़ चुके हैं।

हमारे दादाजान कहा करते थे कि [illegible] जमाना एक खुलासा जमाना था। [illegible] था [illegible] कर होता था। लोग [illegible]

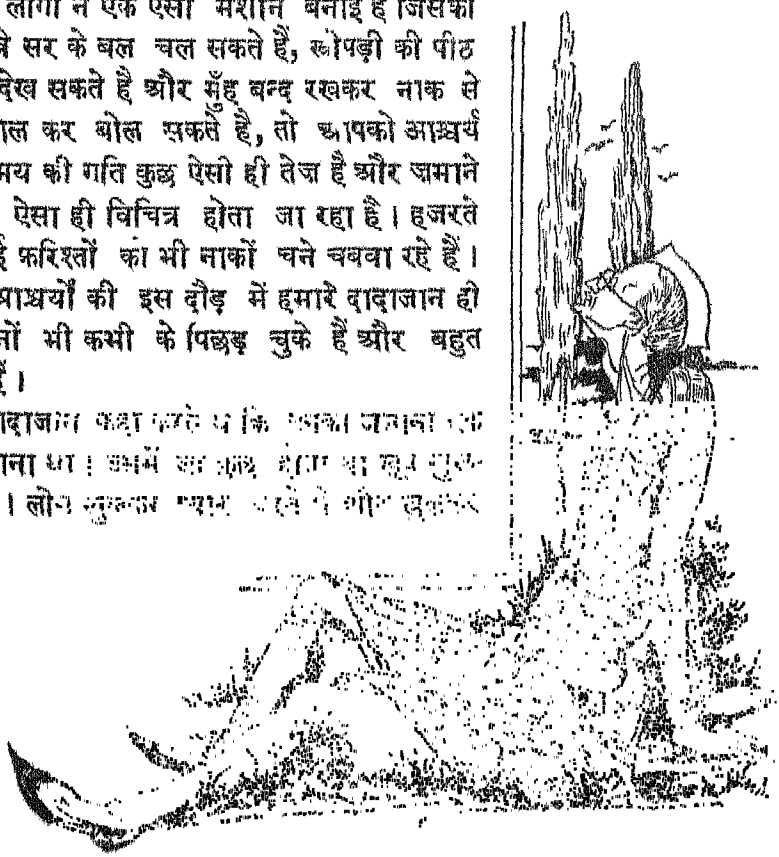

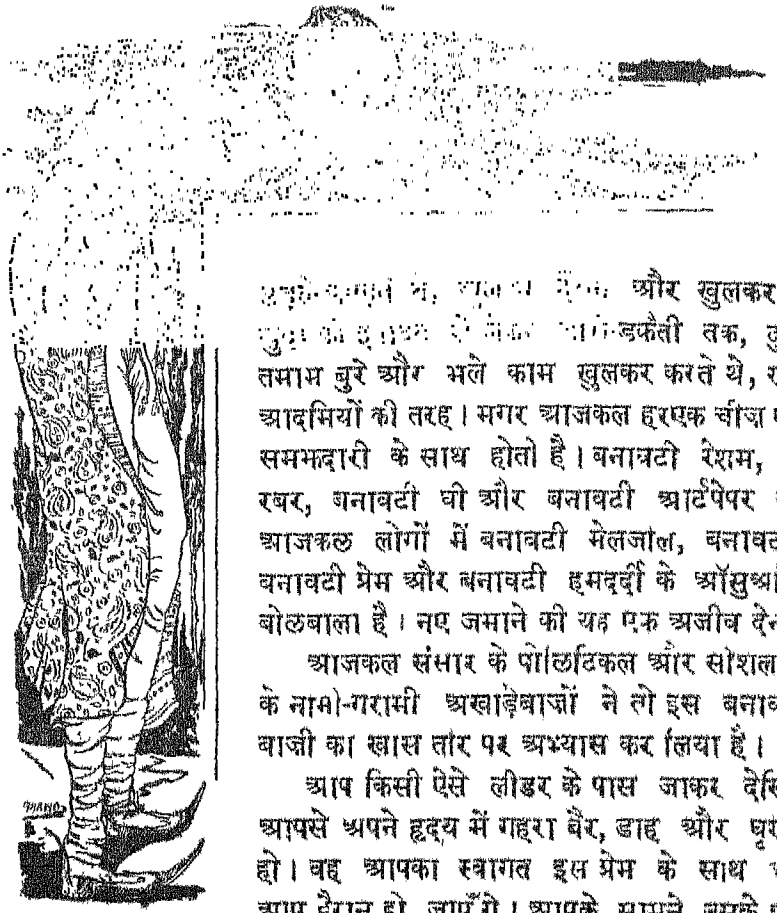

[illegible] और खुलकर रोते थे, [illegible] डकैती तक, दुनिया के तमाम बुरे और भले काम खुलकर करते थे, सीधे-सादे आदमियों की तरह। मगर आजकल हरएक चीज एक खास समझदारी के साथ होती है। बनावटी रेशम, बनावटी रबर, बनावटी घी और बनावटी आर्टपेपर की तरह आजकल लोगों में बनावटी मेलजोल, बनावटी हँसी, बनावटी प्रेम और बनावटी हमदर्दी के आँसुओं का भी बोलबाला है। नए जमाने की यह एक अजीब देन है।

आजकल संसार के पोलिटिकल और सोशल अखाड़ों के नामी-गरामी अखाड़ेबाजों ने तो इस बनावटी पंतरेबाजी का खास तौर पर अभ्यास कर लिया है।

आप किसी ऐसे लीडर के पास जाकर देखिए, जो आपसे अपने हृदय में गहरा बैर, डाह और घृणा रखता हो। वह आपका स्वागत इस प्रेम के साथ करेगा कि आप हैरान हो जाएँगे। आपके सामने उसके ओठों पर हँसी में सदा प्रेम बरसता रहेगा और आपके हटते ही, उसकी खोपड़ी में, जिसे आप मजे में शैतान का कारखाना कह सकते हैं, आपको दुनिया से मिटा देने की कोई नई तरकीब नाच उठेगी।

शहर का देशाँ

विलायती हँसी के शिकार

इस ऊपरी, फीकी और विलायती हँसी के हज़ारों भोले शिकार इस दुनियाँ में आपको घूमते-फिरते नजर आएँगे।

अगर हँसी के भी साइंटिफिक दर्जे कायम किये जा सकते हैं, तो इस हँसी को डिप्लोमॅटिक या पोलिटिकल हँसी कहा जा सकता है।

पच्छिम ने पूरब को जो हज़ारों नई नई चीजें दी हैं, उन्हें न देकर अगर वह उसे सिर्फ यह ऊपरी हँसी ही सिखा सकता, तब भी वह संसार में नाम कर जाता।

अपनी मौजूदा जिन्दगी में हम लोगों का सामना इस हँसी से, आए दिन होजाता है। हम जिधर निकल जाते हैं, इसी का दौर-दौरा पाते हैं। सिर्फ ऊँचे दर्जे के लोगों में ही नहीं सभी तरह के लोगों में।

चुनाव में वोट लेने का कन्वेसिंग करने जाइए। काइयाँ वोटर, जो पहले से किसी दूसरे को वोट देने की सौगन्ध खा चुका होगा, आपके सामने यही विलायती हँसी हँसेगा। और आपको विश्वास दिला देगा कि उसका वोट संसार में यदि कभी किसी को मिल सकता है, तो वह केवल आपको। परन्तु आपको पोलिंग के दिन मालूम होगा कि आप मक्कार वोटरों की 'बनावटी हँसी'

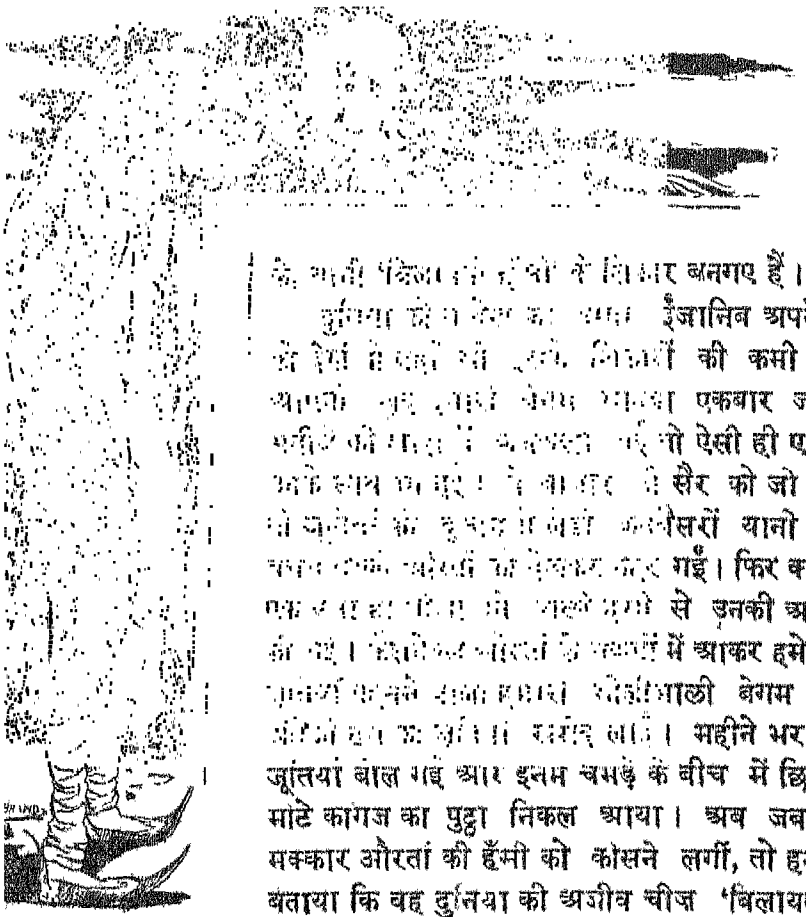

के [illegible] शिकार बनगए हैं।

[illegible] ईजानिब अपने घर ही [illegible] की कमी नजर न [illegible] एकबार जब अपने [illegible] ऐसी ही एक घटना [illegible] सैर को जो निकलीं, [illegible] यानी जूतियाँ [illegible] गईं। फिर क्या था? [illegible] से उनकी आबभगन [illegible] में आकर हमेशा वैसी [illegible] बेगम साहिबा [illegible]। महीने भर बाद ही जूतियां बोल गईं और इनमें चमड़े के बीच में छिपा हुआ मोटे कागज का पुट्ठा निकल आया। अब जब वे इन मक्कार औरतों की हँसी को कोसने लगीं, तो हमने उन्हें बताया कि वह दुनिया की अजीब चीज 'विलायती हँसी' की शिकार बन गई थीं। सिर्फ यही नहीं, हमारे पास-पड़ौस में ऐसे और भी कुछ मौके आए, जिनसे हमें मालूम हुआ कि यह विलायती हँसी पच्छिम से पूरब के ऊँच हल्कों में आकर अब यहाँ के मामूली लोगों की

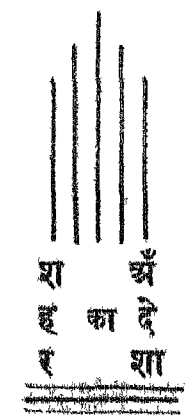

रातदिन की जिन्दगी में भी बुरी तरह घुसती जा रही है। शहरों में फैलकर अब यह धीरे धीरे गाँवों में भी पहुँचना चाहती है।

वह दिन वास्तव में बड़ा ही मनहूस होगा जब यह आफत इस देश के भोले किसानों में भी घर कर जायगी। और वह दिन दूर नहीं है। क्योंकि बिलायती हँसी के धनी हमारे 'लीडरानेवतन' अब वोटों के सौदे करने गाँवों में भी जाने लगे हैं।

इस विलायती हँसी के शिकारों की तादाद इतनी अधिक है और इस किताब में जगह इतनी कम है कि अब क़लम में लगाम लगाना जरूरी हो गया है। अगर आपको इस हँसी के दिलचस्प करिश्मों की पूरी जानकारी की आवश्यकता हो, तो किसी समाचार पत्र में एक अपील छपवा दीजिए कि लोग आपको अपने जाती तजुर्बे लिख भेजें, और एक हफ्ते में ही आप देखेंगे कि आपके पास अलिफ़लैला से भी बड़ी दास्तान तैयार होगई है। आखिर इस बीसवीं सदी में [illegible] अपनी जिन्दगी में एकबार भी इस विलायती हँसी का शिकार न बना हो?

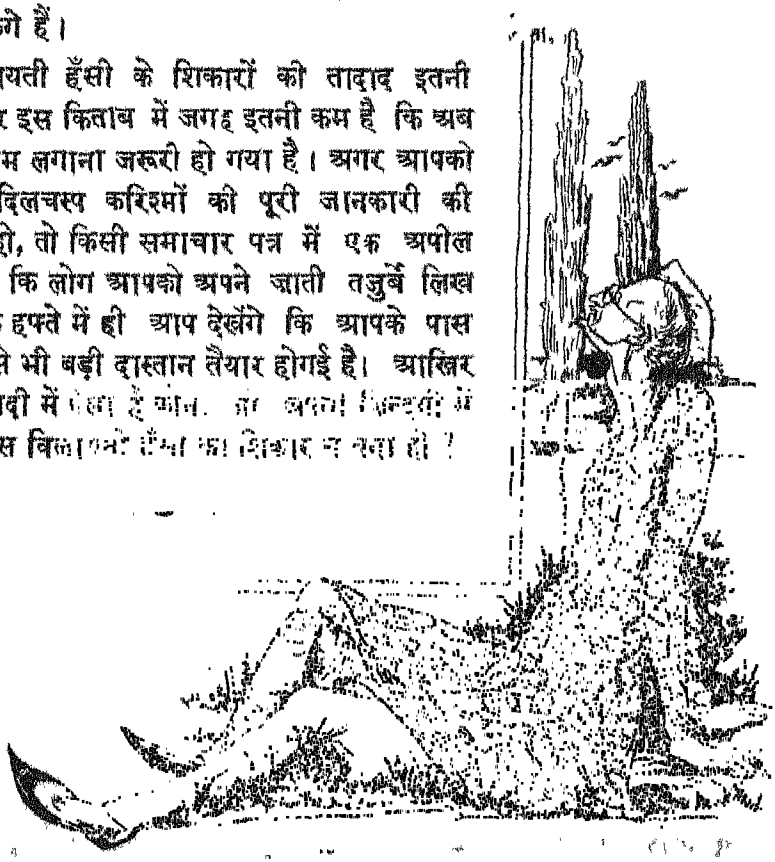

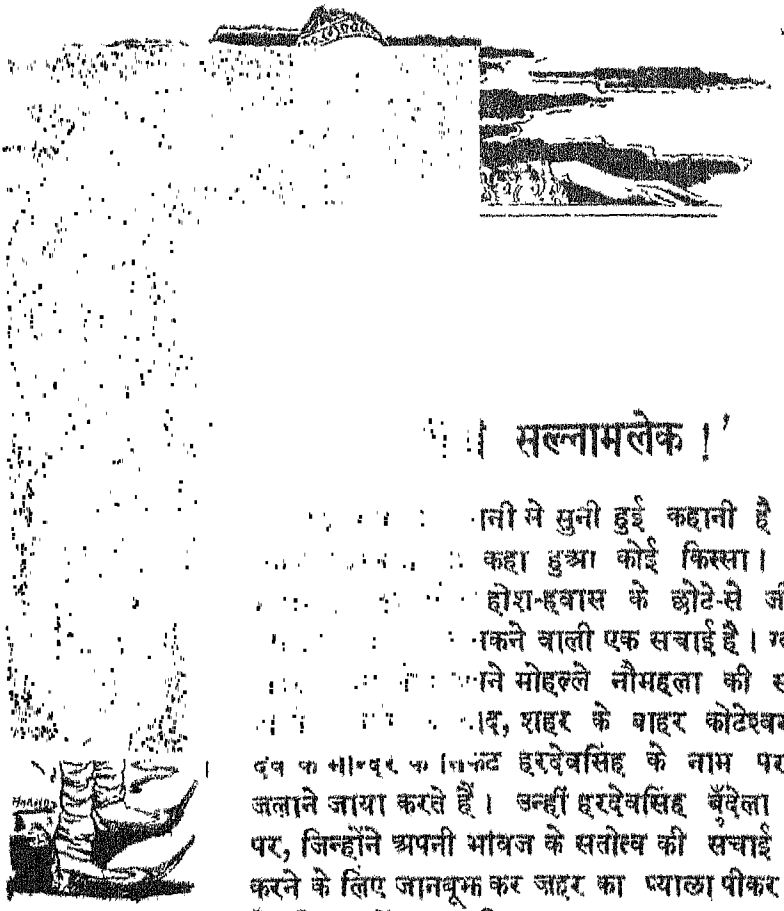

सल्नामलेक !

[illegible] नी से सुनी हुई कहानी है और न [illegible] कहा हुआ कोई किस्सा। यह तो [illegible] होश-हवास के छोटे-से जीवन की [illegible] कने वाली एक सचाई है। ग्वालियर [illegible] ने मोहल्ले नौमहला की सामूहिक [illegible] द, शहर के बाहर कोटेश्वर महा-[illegible] के मन्दिर के निकट हरदेवसिंह के नाम पर, होली जलाने जाया करते हैं। उन्हीं हरदेवसिंह बुँदेला के नाम पर, जिन्होंने अपनी भावज के सतीत्व की सचाई साबित करने के लिए जानबूझ कर जहर का प्याला पीकर दुनिया के इतिहास में आत्मबलिदान का एक अनुपम उदाहरण, एक अनोखी और बे-जोड़ किस्म की पाक शहादत का नमूना पेश किया था। अपनी इसी कुरबानी के कारण आज भी हरदेवसिंह को हिन्दू महिलाएँ देवर मानने में

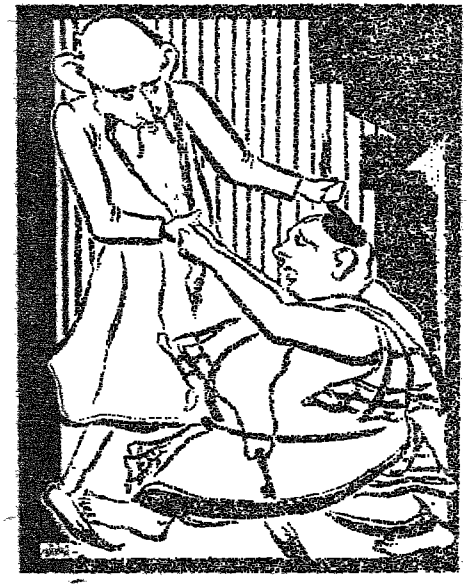

'बोली सरस्वामलेक!'

पृष्ठ २६

"सपटी-मुर्गा-ट्रेनिंग" ज़िन्दाबाद

पृष्ठ ६०

गौरव अनुभव करती हैं, बड़े गर्व के साथ उन्हें हरदौल 'लाला' के नाम से पुकारतीं और ब्याह-शादी आदि की खुशी के अवसरों पर उनकी धूमधाम से पूजा करती हैं। ये हरदौल-लाला के चबूतरे इस देश के गाँव-गाँव में देखे जा सकते हैं।

खैर, ऐसे ही एक पवित्र स्थान पर, एक पवित्र आत्मा के नाम पर हमारे मोहल्ले के लोग भी होली जलाने जाया करते हैं। साथ में होली का सारा साज-सामान, ढप, झाँझ, मृदंग आदि भी होता है। गम्भीर और मजाकिया से लेकर गाली-गलौज के गाने तक होते जाते हैं। जाते वक्त लोग गाते हैं "अरे हो; हरदौल चले होरी खेलन कों। संग लिए बुँदेला ज्वान, हरदौल चले होरी खेलन कों।" लेकिन लौटते समय नक्शा बिलकुल बदल जाता है। लोग एकदम मजाकिया मनोवृत्ति के प्रभाव में आ जाते हैं। लौटते हुए शहर से बाहर एक सन्यासी जी की कुटिया सब से पहले मिलती है। इसलिए सब से पहले ये सन्यासी जी ही इन होली के हुड़दंगों के निशाने बनते हैं। उनकी कुटिया के सामने एक पुलिया पर बैठ कर गाया जाता है—"अटकौ रहो बाबा चेली सों।" आगे चलकर गड़रियों की बस्ती मिलती है, उन्हें होली के प्रसाद में—'तू कौन

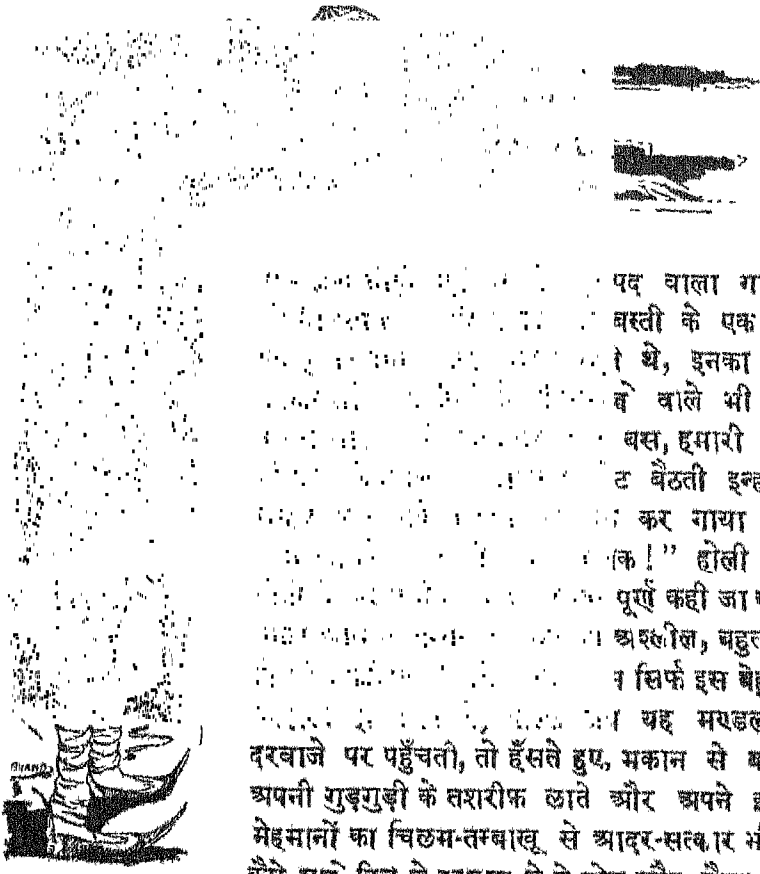

पद वाला गाना सुनने
बस्ती के एक सिरे पर
ो थे, इनका नाम था
बे वाले भी होते हैं,
बस, हमारी इस फाग
ट बैठती इन्हीं साँई
कर गाया जाता—
क!" होली के इन
पूर्ण कही जा सकती है,
अश्लील, बहुत ही गन्दे
न सिर्फ इस बेहूदगी को
। यह मण्डली उनके दरवाजे पर पहुँचती, तो हँसते हुए, मकान से बाहर मय अपनी गुड़गुड़ी के तशरीफ लाते और अपने इन मस्त मेहमानों का चिलम-तम्बाखू से आदर-सत्कार भी करते। कैसे सच्चे दिल के इन्सान थे वे लोग और कैसा मुहब्बत भरा उनका जमाना था!

दूसरी तरफ साँईं साहब मोहर्रम में बड़ी धूम से ताजियेदारी करते। साँईं साहब बाल-बच्चेदार होते हुए भी बड़े सन्तोषी जीव थे। उनकी आर्थिक अवस्था कुछ

फ़िज़ूल खर्ची करने लायक न थी। उनकी इस ताज़ियेदारी में मोहल्ले के हिन्दू नागरिकों का कम हाथ न होता था। कहा जाता है कि काग़ज़ और लेई आदि का कुछ सामान मुहल्ले वाले भी जुटा दिया करते थे। क़त्ल की रात को, मैंने स्वयं अपने बचपन में देखा है कि मोहल्ले में मेहतर से लेकर ब्राह्मण तक साँईं साहब के ताज़िए पर शरबत, रेवड़ी और पैसे चढ़ाने जाना कर्त्तव्य समझते थे। हमारे मोहल्ले में दो ही मुस्लिम परिवार रहते हैं—एक तो उक्त साँईं साहब का और दूसरा मास्टर अब्दुल क़ादिर साहब का। इन मास्टर साहब की कथा लिखे बग़ैर मेरी हिन्दू-मुस्लिम एकता की कहानी अधूरी ही रहेगी। इन मास्टर साहब का हमारे मोहल्ले में बड़ा आदर था। मास्टर साहब के हमजोलियों को छोड़कर कोई ऐसा न था, जो मास्टर साहब को उठकर ताज़ीम न देता हो। मोहल्ले के दूसरे सिरे पर एक मसजिद है, जो इन्हीं मास्टर साहब के प्रबन्ध में थी। उसकी मरम्मत और पुताई वग़ैरा में हिन्दुओं का कम पैसा न लगता था और मास्टर साहब के हिन्दू-प्रेम की तो तारीफ़ ही [illegible] देखकर कोई उन पर [illegible] सकता था। मोहल्ले [illegible]

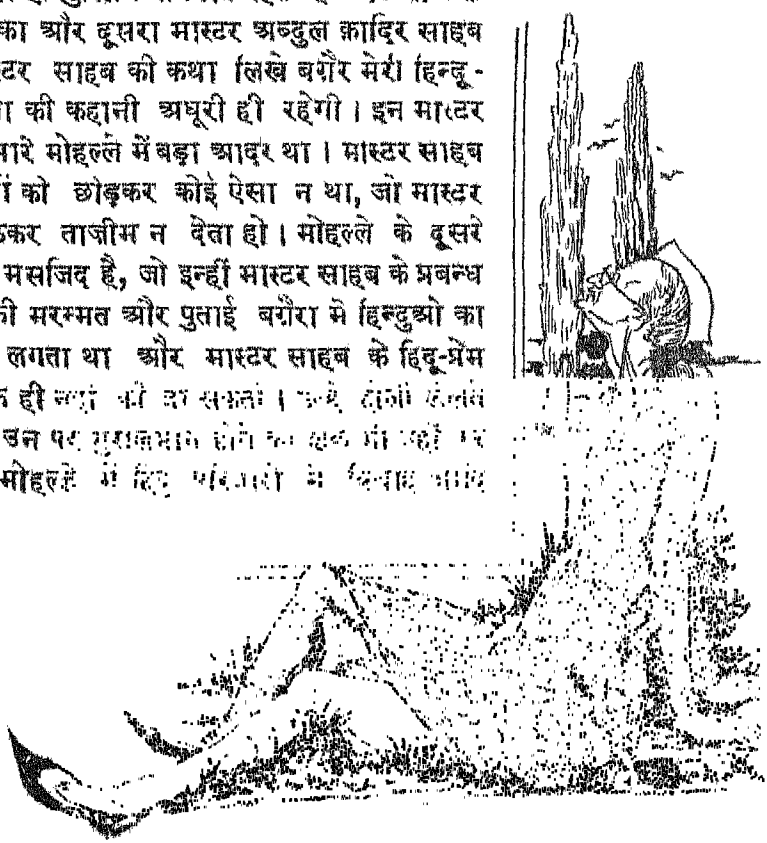

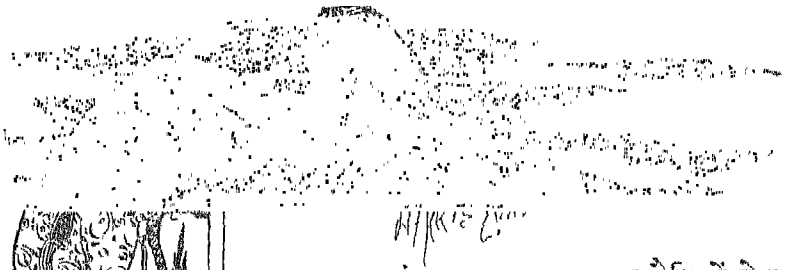

शुभ अवसरों पर जब बन्दनवार पड़ोसियों के दरवाजे पर बाँधी जाती थी और होली आदि अवसरों पर जब दावतें होती थीं, तब इन दोनों मुस्लिम परिवारों को छेंक नहीं दिया जाता था। किसी हिन्दू-परिवार में कोई मृत्यु हो जाने पर इन मुस्लिम-परिवारों में भी, हिन्दुओं की भाँति, चूल्हे में आग नहीं डाली जाती थी, जब तक कि मोहल्ले से मुर्दा न उठ जावे। साँईं साहब की नाज़िएदारी में रात भर होने वाली भड़भड़ से हिंदुओं को कभी नींद हराम होने की परेशानी मेहसूस नहीं हुई और मसजिद के सामने हिन्दुओं के बाजे बजने से मास्टर अब्दुल क़ादिर साहब को कभी एतराज नहीं हुआ। ये उन हिन्दू-मुसलमान पड़ोसियों की एक पवित्र यादगार है, जिनके रोजे-नमाज और संध्या-पूजा आदि में किसी ने कभी न तो ग़फ़लत देखी और न सुनी; जो अपने-अपने मज़हब के पक्के मानने वाले थे।

आज साँईं साहब और मास्टर साहब इस संसार में नहीं हैं और न उस समय के पण्डित हरगोबिन्द, पण्डित भगवानदास और पण्डित चिम्मनलाल ही हैं। हाँ, उनकी सन्तानें अपने-अपने स्थान पर स्थित हैं। और जहाँ तक इन लोगों के व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, झूठी धर्मान्धता और

झूठे मज़हबी कट्टरपन के इस नाज़ुक ज़माने में किसी न किसी प्रकार उन पवित्र आत्माओं की ये सन्तानें आज भी अपने उन तरीक़ों को निभाए चले जा रही हैं। लेकिन क्या मैं अपने इन हिंदू और मुस्लिम भाइयों से, जो दो व्यक्तियों के आपसी झगड़े को मज़हबी रंग देकर दुश्मनी से आग भड़काने में आजकल मज़हब-परस्ती और धर्म-भक्ति समझते हैं, पूछ सकता हूँ कि क्या हमारे मोहल्ले के सईं साहब और मास्टर साहब अपने हिन्दू पड़ौसियों के रंज और खुशी में शामिल रहकर कोई कुफ्र करते थे या क्या हिन्दू पण्डित अपने मुसलमान भाइयों के दुख-सुख में शरीक रहने के कारण धर्म-भ्रष्ट हो जाते थे ?

!!!

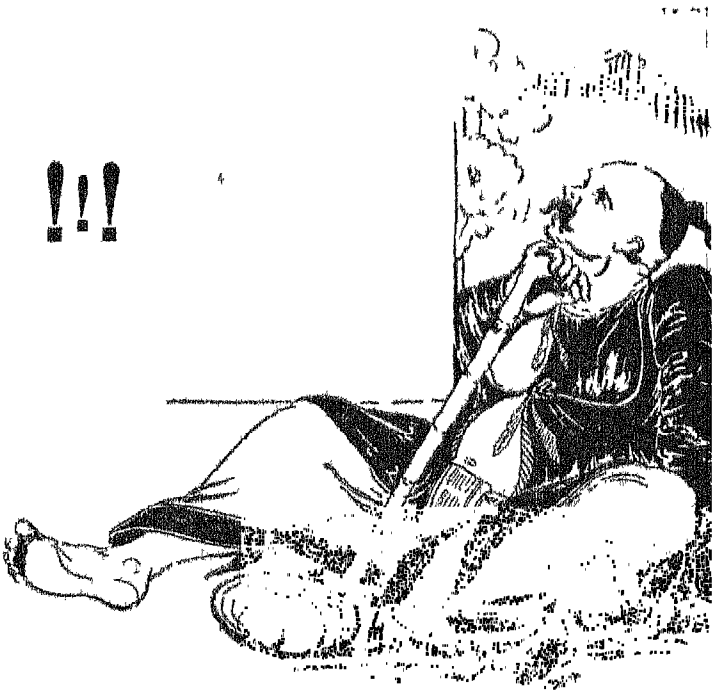

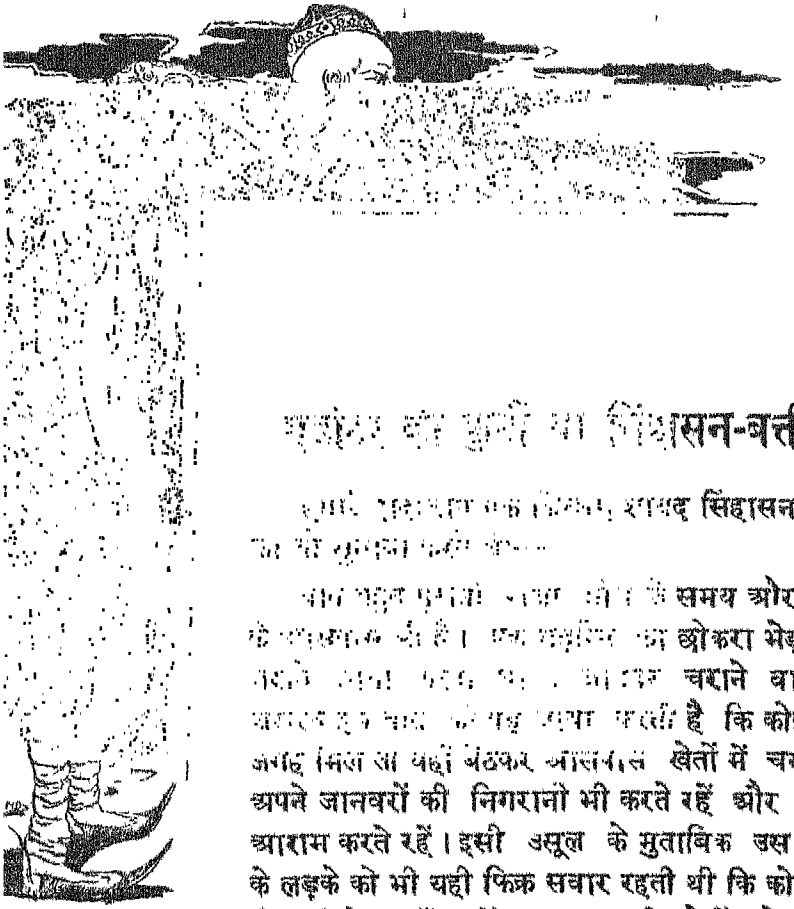

[illegible] की कुर्सी या सिंहासन-बत्तीसी

[illegible] सिंहासन-बत्तीसी [illegible]

[illegible] समय और उज्जैन [illegible] छोकरा भेड़ बकरी [illegible] चराने वालों को [illegible] है कि कोई ऊँची जगह मिल जाय जहाँ बैठकर आसपास खेतों में चरने वाले अपने जानवरों की निगरानी भी करते रहें और खुद भी आराम करते रहें। इसी उसूल के मुताबिक उस गड़रिए के लड़के को भी यही फिक्र सवार रहती थी कि कोई ऊँचा टीला मिले जहाँ चारों तरफ उसकी भेड़ों को चरने के लिए काफी चारा हो और वह खुद भी आराम के साथ एक जगह बैठ कर उनकी देखरेख कर सके। एक दिन भेड़ें चराते चराते उसे एक टीला नजर पड़ ही गया। और

अपने काम की चीज समझकर उसने वहीं अपना हेड-क्वार्टर जमा दिया। लेकिन एक अजीब बात लोगों की नजर में आई कि जब वह लड़का जो निहायत ही बौंजड दिमाग का था, उस टीले पर बैठता है तब बड़ी योग्यता की बातें करता है। बातें ही नहीं अगर उसके पास कोई बात पूछने को न भी जाए तो भी अपने आप ही चिल्लाता रहता है। वैसे तो लोगों को बड़ा सहारा बँध गया था कि जब कोई उलझन सामने आई, तो चट उस लड़के को टीले पर बैठाया और अपनी उलझन सुलझाली। बड़ा अच्छा नुसखा हाथ लग गया था। लेकिन उसकी कुछ बातों से गाँववाले डरते भी थे। वह उस टीले पर बैठकर उस जमाने के मशहूर राजा भोज की खूब चिल्ला-चिल्लाकर आलोचना किया करता था। कुछ दिन तो बात दबी ढँकी रही, लेकिन आखिर राजा भोज की सी० आई० डी० के कानों में यह खबर पड़ ही गई और उसने राजा के दरबार तक खबर पहुँचा ही दी। बेचारे गड़रिये के साहबजादे बगावत फैलाने के जुर्म में पकड़कर राजा भोज के सामने पेश किये गये, लेकिन [illegible] 'मोची का मोची' [illegible] उसमें यह बात नजर न आई। [illegible]

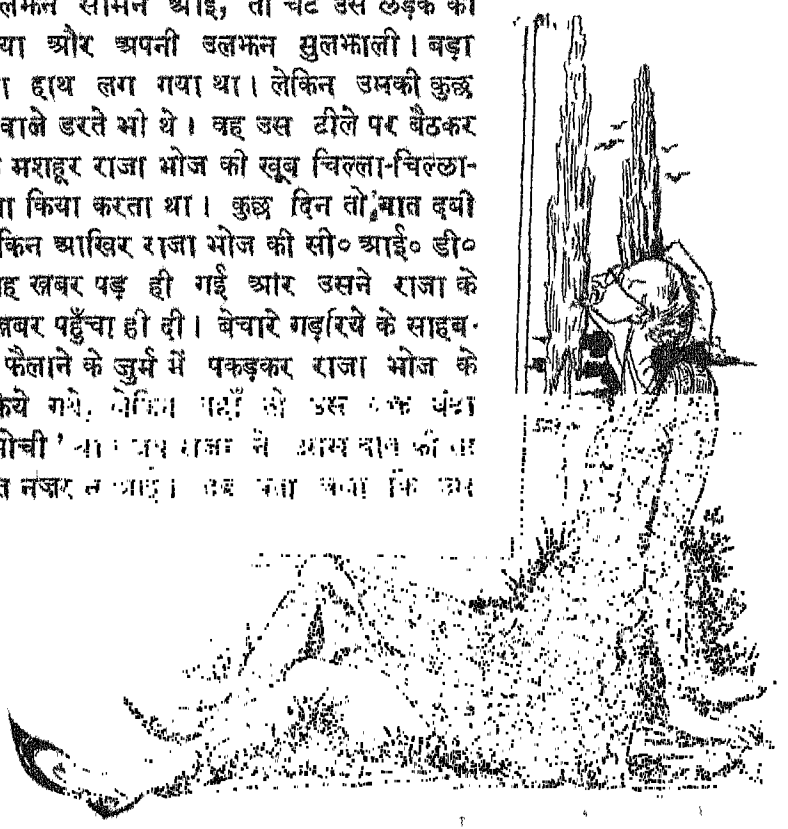

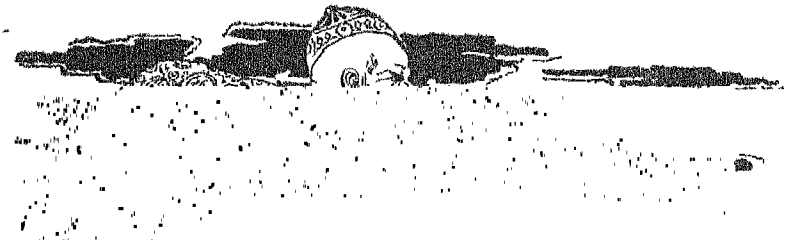

तब राजा ने
सिंहासन राजा
बीर बिकरमाजीत का मिला। और यह उसी की करामात थी कि उस पर बैठकर गड़रिए का लड़का भी दूर की कौड़ी ले आता था।

ईंजानिब दादाजान की कही हुई बुजुर्गों की इस कहानी को ग़लत तो मानने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि ईंजानिब का ऐसी किताबों से सम्बन्ध जरा दूर का ही रहा है, जिनके बारे में अकबर इलाहाबादी फरमा गए हैं:—

हम ऐसी कुल किताबें काबिले जब्ती समझते हैं,
जिन्हें पढ़—पढ़के लड़के बाप को खब्ती समझते हैं।

हाँ तो, ईंजानिब इस कहानी पर आँख और कान बंद करके विश्वास करते थे और सोचते थे कि आखिर साइंस के इस जमाने में जब रामायनी जमाने के विमान और रावन की फौज के आग लगाने वाले, पानी बरसाने वाले हथियार और लड़ाई के ढंग सब ईजाद हो चुके हैं, तब बीर बिकरमाजीत के जमाने का सिंहासन नहीं बनाए जा सकने से मौजूदा साइंस की ताकत और नेकनामी में ही बट्टा लगता है। साइंस की कमजोरी पर भी ईंजानिब को यकीन नहीं था। गरज़े कि ईंजानिब की अक्ल दादा-

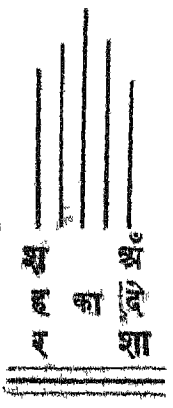

जान की कहानी की सचाई और साइंस की कमज़ोरी के शुबह की चक्की के पाटों के बीच गेहूँ का दाना हो रही थी।

लेकिन हज़रत ! बुज़ुर्गों का कौल है कि तलाश करने से ख़ुदा भी मिल जाता है। तब फिर सिंहासन क्यों न मिलता। और इस ईजाद की नेकनामी का सेहरा भी ईंजानिब के सिर बँधता नज़र आता है। बात यूँ हुई कि अपनी सियासी सभा के एक जलसे में जब ईंजानिब ने कुछ अख़बारों के संपादकों के एक मसले के विरोध में ऊलजलूल भाषण सुने तो ईंजानिब का माथा ठनका कि ये लीडर-नुमा सम्पादक न जानें हमारी किश्ती कहाँ लेजाकर फँसा देंगे। लेकिन जब उन्हीं भलेमानुसों के मज़मून उन्हीं के अख़बारों में उसी मसले की तारीफ़ में देखे तो ईंजानिब को शक हुआ कि मौजूदा ज़माने में अगर किसी चीज़ में राजा बीर बिकरमाजीत की सिंहासन बत्तीसी 'डेवलप' हो सकती है तो हो न हो वह किसी सम्पादक की कुर्सी ही में होगी। देखिए, जो चीज़ मैदान में इन संपादकों की नज़र में निकम्मी थी वही सम्पादक की कुर्सी पर चढ़कर बैठते ही उपयोगी हो गई। (चीज़ से कोई बहस नहीं केवल इनके तरीके पर ग़ौर करना है।)

तो जनाब, तभी से ईंजानिब ग़ौर के साथ कुछ

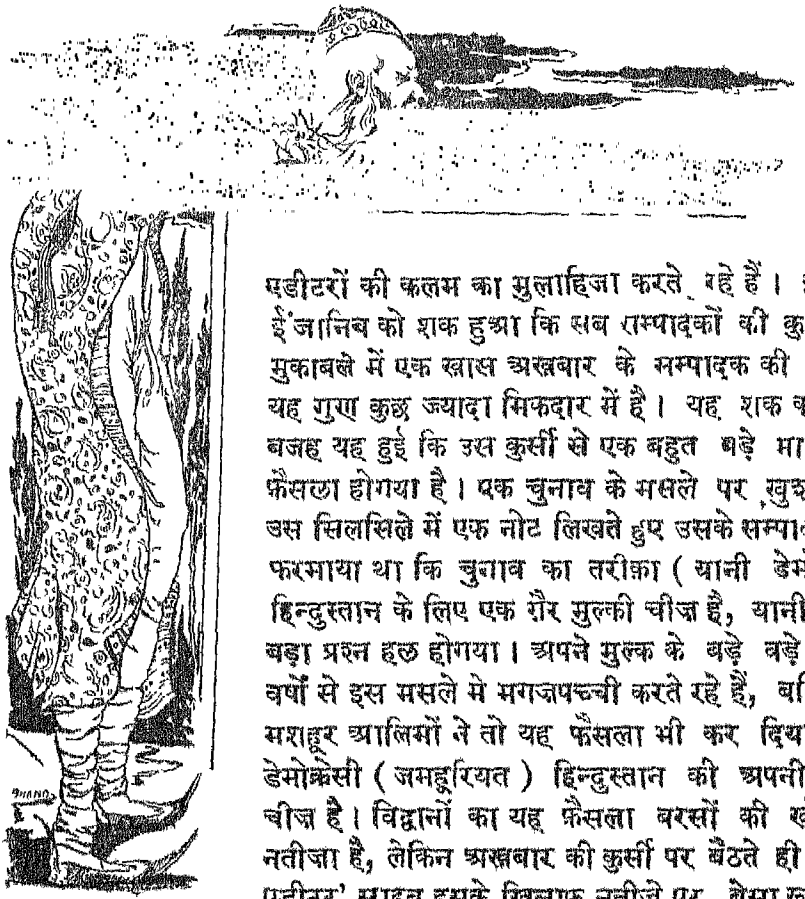

एडीटरों की कलम का मुलाहिजा करते रहे हैं। इस बार ईंजानिब को शक हुआ कि सब सम्पादकों की कुर्सियों के मुकाबले में एक खास अखबार के सम्पादक की कुर्सी में यह गुण कुछ ज्यादा मिकदार में है। यह शक करने की वजह यह हुई कि उस कुर्सी से एक बहुत बड़े मामले का फैसला होगया है। एक चुनाव के मसले पर खुश होकर उस सिलसिले में एक नोट लिखते हुए उसके सम्पादकजी ने फरमाया था कि चुनाव का तरीक़ा (यानी डेमोक्रेसी) हिन्दुस्तान के लिए एक गैर मुल्की चीज़ है, यानी कितना बड़ा प्रश्न हल होगया। अपने मुल्क के बड़े बड़े विद्वान वर्षों से इस मसले मे मगजपच्ची करते रहे हैं, बल्कि कुछ मशहूर आलिमों ने तो यह फैसला भी कर दिया है कि डेमोक्रेसी (जमहूरियत) हिन्दुस्तान की अपनी पुरानी चीज़ है। विद्वानों का यह फ़ैसला बरसों की खोज का नतीजा है, लेकिन अखबार की कुर्सी पर बैठते ही 'इंचार्ज एडीटर' साहब इसके खिलाफ नतीजे पर बेसाख्ता पहुँच ही गए। जब बीच हिन्दुस्तान के इस सियासी खंभे की यह राय है तो फिर बेचारे जिन्ना साहब को यही राय रखने पर कांग्रेसी लोग क्यों बुरा-भला कहते हैं, ईंजानिब को अभी यह मसला हल करना बाक़ी है।

एडीटर की कुर्सी या सिंहासन-बत्तीसी

ईजानिब अभी इस बात की भी छान-बीन कर रहे हैं कि सिंहासन-बत्तीसी के गुणों को रखनेवाली ये एडीटर की कुर्सियाँ किस लकड़ी या धातु की बनी हुई हैं और उन पर किस चीज की पॉलिश और वारनिस की जाती है, क्योंकि हर एडीटर की कुर्सी में सिंहासन-बत्तीसी के गुण नजर नहीं आरहे हैं।

!!!

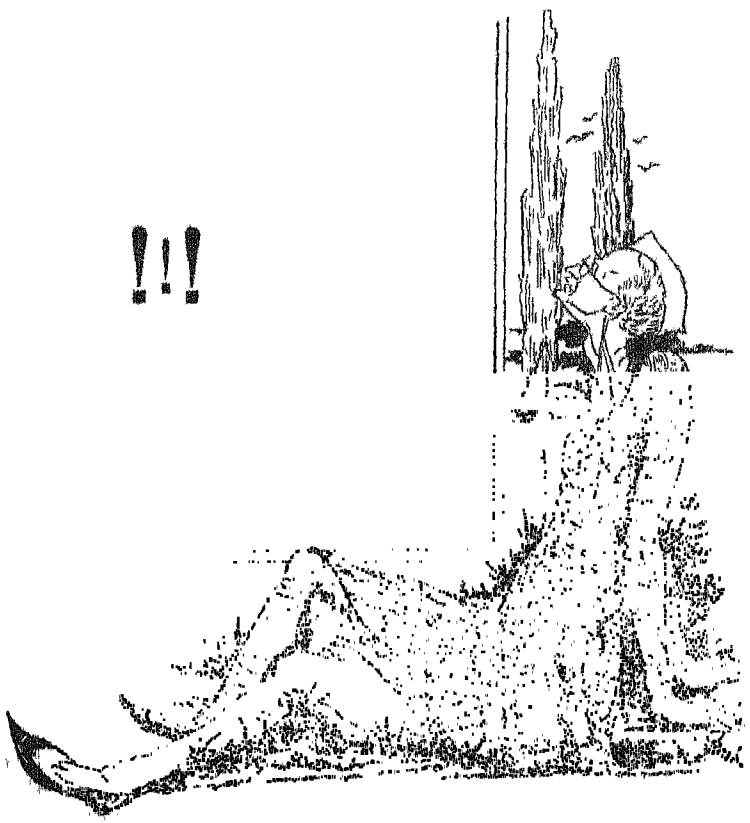

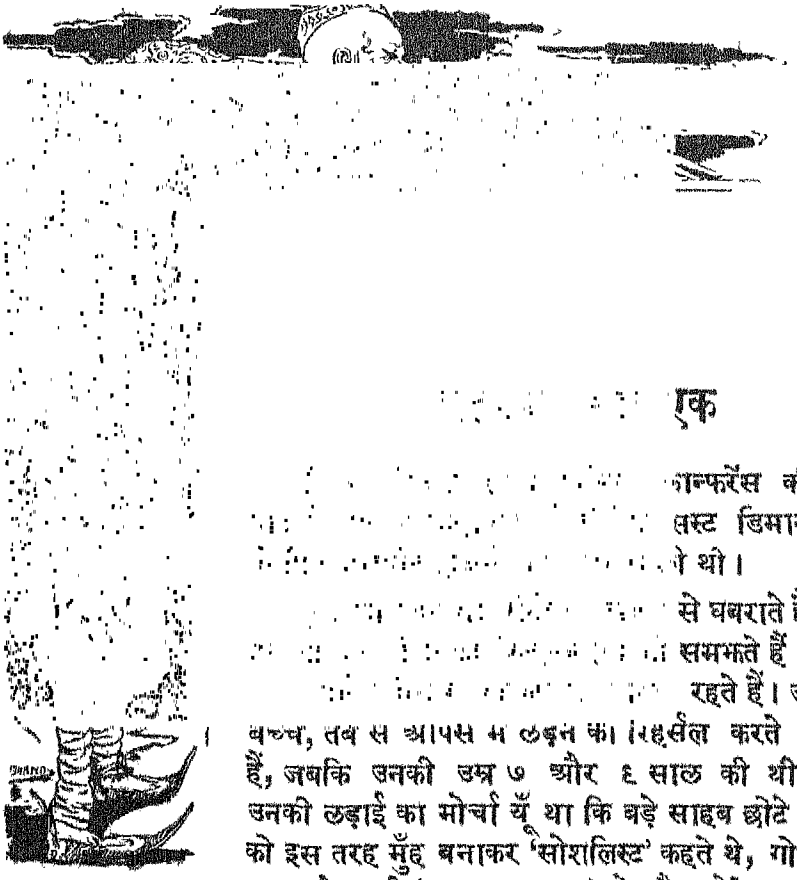

[illegible] एक

[illegible] कान्फरेंस की मार-
[illegible] तस्ट डिमान्स्ट्रेशन
[illegible] थी।

[illegible] से घबराते हैं, मगर
[illegible] समझते हैं।

[illegible] रहते हैं। उनके दो बच्चे, तब से आपस में लड़ने का रिहर्सल करते आ रहे हैं, जबकि उनकी उम्र ७ और ६ साल की थी। पहले उनकी लड़ाई का मोर्चा यूँ था कि बड़े साहब छोटे साहब को इस तरह मुँह बनाकर 'सोशलिस्ट' कहते थे, गोया इस लफ्ज़ के मानी 'पक्का बदमाश' हो और छोटे साहब बड़े को इस अदा से 'गान्धिस्ट' कहते थे, गोया इस लफ्ज़ के मानी 'परले सिरे का बेवकूफ़' हों!

ज्यों ज्यों उम्र बढ़ती गई, दोनों साहबज़ादों के आपस के दिन-रात लगातार चलने वाले झगड़ों के मोरचे बदलते

गए, मगर उनके माँ-बाप हमेशा उनके झगड़ों को प्यार के साथ 'हिन्दू-मुसलिम-झगड़ों,' 'प्यार के झगड़ों' या 'आपसी झगड़ों' के नाम से पुकारते रहे और कहते रहे कि आख़िर भाई से भाई कब तक लड़ता रह सकता है। और लड़े भी तो जुदा कब हो सकता है ?

धीरे धीरे छोटे साहबज़ादे ने बड़े को मारपीट कर 'गांधिस्ट' से 'सोशलिस्ट' बना लिया। लेकिन लड़ाई बिना चैन कहाँ ? और लड़े तो 'सोशलिस्ट'-'सोशलिस्ट' आपस में कैसे लड़े ? इस पर छोटे के दिमाग़ ने फिर एक रास्ता निकाला। वह अपने को 'कम्यूनिस्ट' कहने लगा और बड़े को 'सोशलिस्ट'! अब 'जनता की लड़ाई' बनाम 'साम्राज्यवाद की लड़ाई' की बहस शुरू हुई और इस मसले पर दोनों में फिर पहले की तरह जूता चलने लगा! अब छोटे साहब फ़रमाते हैं कि "क्योंजी, तुम 'सोशलिस्ट' नाम को क्यों शरमिन्दा कराते हो, हो तो तुम गांधी के गुलाम!" इस पर बड़े साहब फ़रमाते हैं कि 'गांधी की गुलामी मैं कई दिनों से छोड़ चुका हूँ, मगर तुम स्टैलिन के पक्के गुलाम बने हुए हो।' कहना न होगा कि वे यह सारा ड्रामा अपने बाप की बैठक में रोज़ाना जमा होने वाले मशहूर राजनीतिज्ञों की ताज़ी बहस सुनकर सीखते रहते थे।

टी होते हुए
है कि उसे
रू के मोर्चे मे
फासिस्टों के
ला-ट्रेनिंग में

और लड़ाई-
ायम रहना
-रात लड़ते
ती में खाना

न होंगे, तब लड़ाइ-कार्ड का यह माद्दा कहां छोड़ आयेंगे? कुदरती तौर पर इनमें और इनके साथियों में आपस में घूँसे और लाठियाँ चलेंगी। नए खून की राजनीति की यही खूबी है। मीटिंगों और डिमान्स्ट्रेशनों में मारपीट हो जाने की खबर पढ़कर जो लोग परेशान होते हैं, वे 'अहमक़ नम्बर एक' हैं!

अनाड़ी मजिस्ट्रेट

मरहूम भूरेखाँ दफ़ेदार के साहबज़ादे कालेखाँ। साहब ग्रेज्युएट होते ही नौकरी के लिए दफ्तरों की चौखटें चूमने का पुराना तरीका छोड़ कर दो साल लखनऊ के किसी पुराने हक़ीम की शागिर्दी कर के लौटे तो एक पुराने मरीज रईस ने अपनी लड़की से उनकी शादी कर दी। शहर में कुछ पुराने घाघ हक़ीम थे। उनकी योग्यता से ज्यादा उनके हथकण्डे प्रभावशाली थे। उनके मुकाबिले कालेखाँ-जैसे नए, भोले और सच्चे हक़ीम की प्रैक्टिस मामूली ही चल सकती थी। उधर रईसजादी बीबी के खर्च! तंगी रहने लगी। स्वर्गीय पिता का कुछ अफ़सरों से गहरा घरोबा था। उन्हें फ़िक्र होने लगी कि साहबज़ादे कहीं राजनीतिक [illegible] न होने लगें। उन्होंने और कुछ नहीं तो [illegible] म्युनिसिपल ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट ही बना दिया। [illegible]

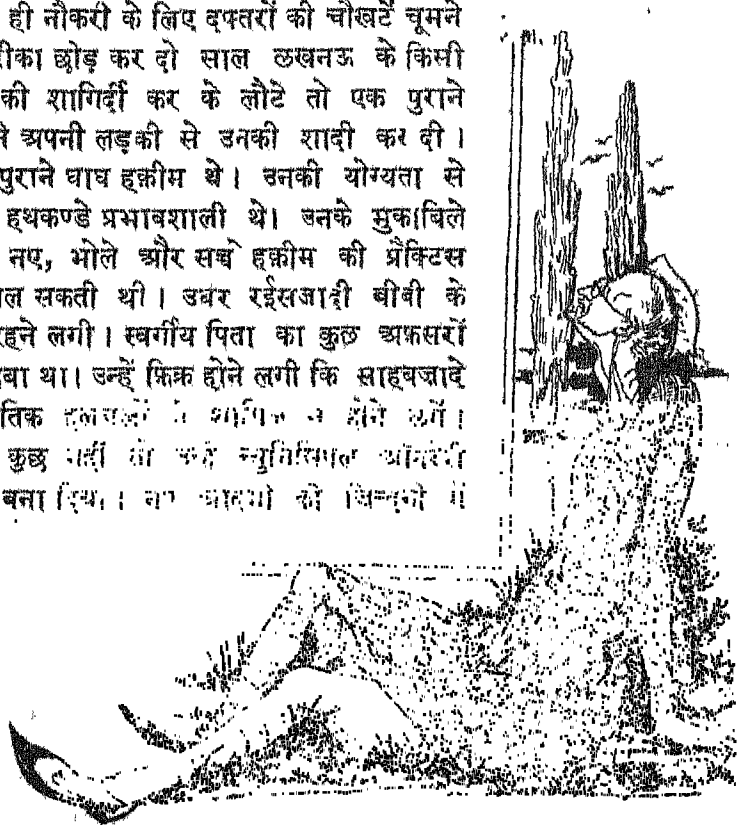

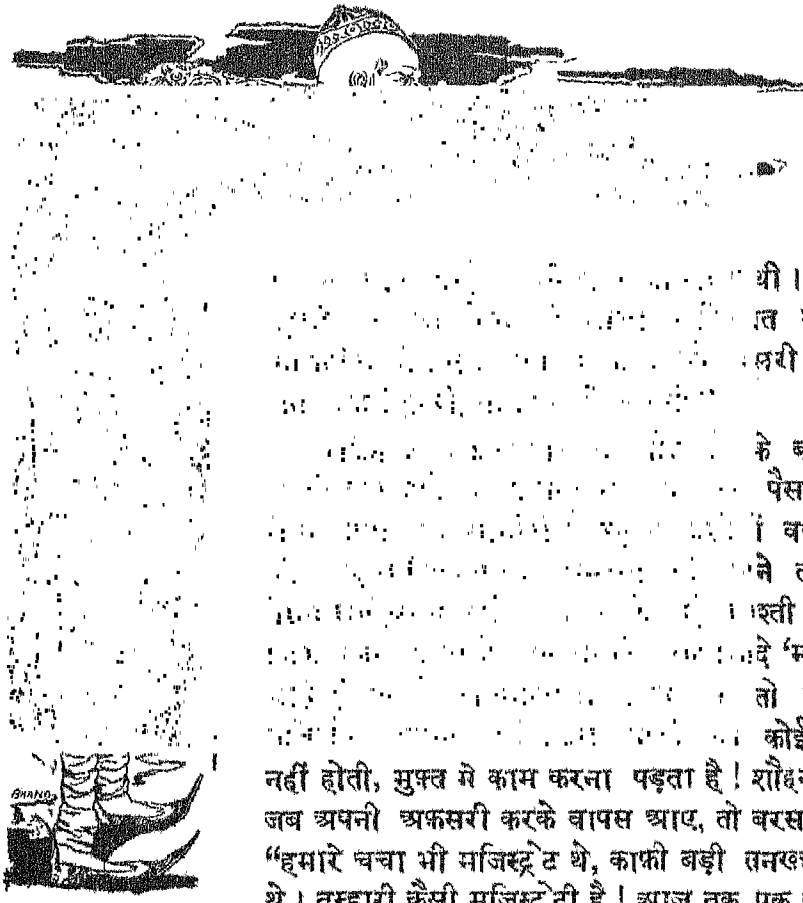

थी। पति को
त भी और
री तरफ़ से

के बाद तीन
पैसा भी घर
वक्त लगने
ने लगी, तो
स्ती से जब
दे 'मजिस्ट्रेट'
तो 'अनाड़ी
कोई तनख़ा
नहीं होती, मुफ़्त में काम करना पड़ता है! शौहर साहब जब अपनी अफ़सरी करके वापस आए, तो बरस पड़ीं — "हमारे चचा भी मजिस्ट्रेट थे, काफ़ी बड़ी तनख़्वाह पाते थे। तुम्हारी कैसी मजिस्ट्रेटी है! आज तक एक पाई घर में नहीं आई!" हकीम साहब ने ऑनरेरी म्युनिसिपल मजिस्ट्रेट का मतलब खुलासा समझाया! कहा—'हुकूमत मुफ़्त भी बड़ी चीज़ होती है। हुकूमत की कुर्सी पर बैठना, सज़ा दे सकना, और मुआफ़ कर सकना, मामूली बात

नहीं है ! पाँच सवारी बिठाने वाले ताँगे वाले, मिठाई में रंग डालने वाले हलवाई और म्युनिसिपेलिटी की जमीन दबाने के आदी बहुत से मकान बनवाने वाले रईस हमारे डर से थर-थर काँपते हैं ! हम चाहें तो दस रुपया जुर्माना करवें, चाहे तो सिर्फ एक आना जुर्माना लें और चाहें तो सूखा छोड़ दें ! बेगम, तुम अफसरी के मजे क्या जानो ! अगर इन सब लोगों की एक- फौज तुम्हारे पैरों पर सर रख कर गिड़गिड़ावे और तुम डाट कर कहो कि नहीं, हम सजा दिए बिना न छोड़ेंगी, तो तुम्हें हमारी अफसरी का मजा मालूम हो।'

मगर बेगम के दिमाग का पारा न उतरा सो नहीं उतरा। वह दिन-रात टाँय टाँय करने लगी ! यहाँ तक कि हकीम साहब को स्तीफे का मजमून सोचना शुरू करना पड़ा ! शेख बजरबट्टू ने जब यह हाल सुना तो उन्हें समझाया। कहा कि—'आप हरगिज स्तीफा न दें ! मैंने धूप में बाल सफेद नहीं किए हैं ! मैं बेगम साहिबा को राह पर ला दूँगा। आप जरा एक हफ्ते के लिए रुख सख्त कर दीजिए !' इधर तो हकीम साहब की सख्ती बात-बात पर बढ़ने लगी और उधर शेख बजरबट्टू ने शहर भर के ताँगे वालों, हलवाइयों और मकान वालों को यह गुरु

[illegible] बुढ़ियों को
[illegible] हीम साहब
[illegible] स, बेराम ने

[illegible] ढ़ियाँ बेराम
[illegible] गीं, दुआएँ
[illegible] फिर जागी !
[illegible] पी पर कम
[illegible] हीम साहब
[illegible] कर सौ-
[illegible] त वही हुक्म

ग़रज़ यह कि मियाँ-बीबी दोनों मिलजुल कर ऑनरेरी मजिस्ट्रेटी करने लगे। हक़ीम साहब की घर-गृहस्थी, हिक़मत और ऑनरेरी मजिस्ट्रेटी, तीनों अमन-चैन और हँसी-ख़ुशी के साथ चलने लगीं ! शेख़ बजरबट्टू अब उस घर के गुरू समझे जाते हैं।

मेले की सैर

उन दिनों अपने शहरों में चारों तरफ ग्वालियर के मशहूर सालाना मेले की चहल-पहल दिखाई देती थी। जिस तरह किसी ज़माने में यूरोप की तमाम सड़कें 'रोम' की तरफ जाती थीं, ठीक उसी तरह हमारे शहरों की कुल सड़कें, ऐसा मालूम होता था कि मेले की तरफ़ जाती थीं। जब सारे शहर को मेले की तरफ लगातार कई दिनों तक जाते देखा तो ईजानिब भी अपने को उधर जाने से न रोक सके। दो एक बार तो हवाई गिलाफ में चक्कर लगाया लेकिन कुछ लुत्फ हासिल नहीं हुआ। तब सोचा कि आदमी के चोले में ही जाना ठीक होगा। तो साहब यह ख्याल आते ही एक हम-उम्र जईफ 'घुल्ला' के सर जा सवार हुए। 'तख्त-शहर' ग्वालियर में मेले के दरवाजे के सामने ताँगा स्टैण्ड पर पहुँचे तो वहाँ बहुत-से रंग-बिरंगे मेले के शौकीनों को [illegible] का इंतजार

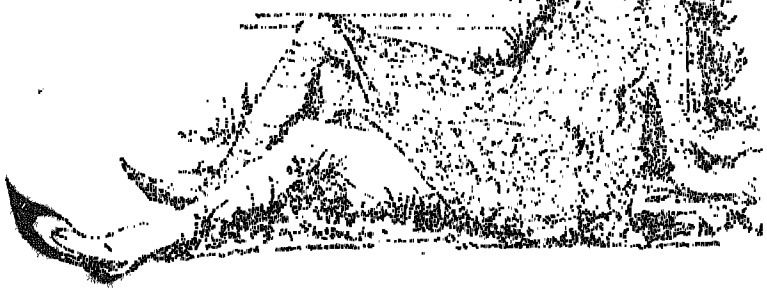

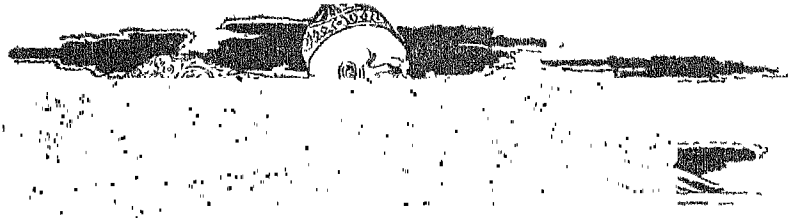

तादाद में स्टेण्ड हुआ कि ताँगेवाले दो आने सवारी माँग रहे थे और 'मोटर बस' चार पैसे सवारी किराया लेती थी। हालाँकि ईजानिब मामूली तौर पर ताँगे को ही पसंद करते हैं, मगर इस दफ़ा लोगों की भेड़िया धसान में शामिल होकर हम भी दूसरों की तरह पचास फ़ी सदी की बचत के लिए कमरबस्ता होगए। जैसे जैसे 'बस' के आने का वक्त नज़दीक आने लगा ताँगों का भाव भी गिरने लगा। दो आने से सात पैसे, फिर छै पैसे और आखिर पाँच तक। इतने ही में 'बस' की घड़घड़ाहट जो सुनाई पड़ी तो ताँगों का रेट भी चार पैसे पर उतर ही आया। लेकिन मेले के शौकीन जल्दी पहुँचने के लालच में पड़कर ताँगों का बायकाट कर बैठे। खैर साहब, 'बस' आई और सभी का दिल बैठ गया जब देखा कि छत तक 'बस' भरी हुई थी। छत तक इस तरह पर कि उसमें लोग खड़े थे और उनके सिर छत से टकरा रहे थे। नतीजा यह हुआ कि तमाम सवारियाँ जो ग्वालियर के स्टेण्ड पर घण्टे दो घण्टे से आस लगाए बैठी थीं वे टापती रह गईं और 'बस' 'कासम खाँ का चक्कर' काट कर बिला रुके ही मेले की तरफ़ लम्बी

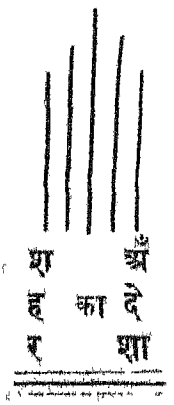

बनी। 'बस' में बैठे हुए तक़दीर के साँड़ों को देखा कि हमारी तरफ़ आँखों ही आँखों में 'तिलिलि' कर रहे थे। बच्चे होते तो शायद हाथ के अँगूठे दिखाकर भी करते।

उधर जनाब, जैसे ही 'बस' ने पीठ फेरी कि नाँगा किराया का भाव फिर दो आने पर जा पहुँचा। आखिर झख मारकर लोगों को दो आने सवारी ही से लदना पड़ा, क्योंकि दूसरी 'बस' अब दो घंटे से पहले आने वाली नहीं थी। और पहले ही से 'बस' भरी हुई न आवेगी इसका क्या विश्वास था?

गरज़े कि किसी तरह मेले जा पहुँचे। घूमते-घामते अखाड़े के पास पहुँचे तो सोचा कि चलो अंदर से इसे भी देखलें। कुश्ती का दिन न होने से आम परवानगी थी और टिकिट के पैसे देने का खतरा नहीं था। अखाड़ा बाहर से निहायत खुशनुमा, पक्का, पत्थर चूने का बना हुआ है और खयाल था कि अन्दर भी ऐसी ही कोई सजावट नज़र आएगी। लेकिन, अंदर जो दाखिल हुए, तो गोबर से लिपी हुई मिट्टी की कच्ची गैलरी (सीढ़ियाँ) चारों तरफ़ तमाशबीनों के बैठने के लिए नज़र पड़ीं। उम्दा खूबसूरत चहारदीवारी के अंदर कच्ची गोबर से लिपी गैलरी बनाकर 'मखमल में टाट की गोट' लगाने की वजह

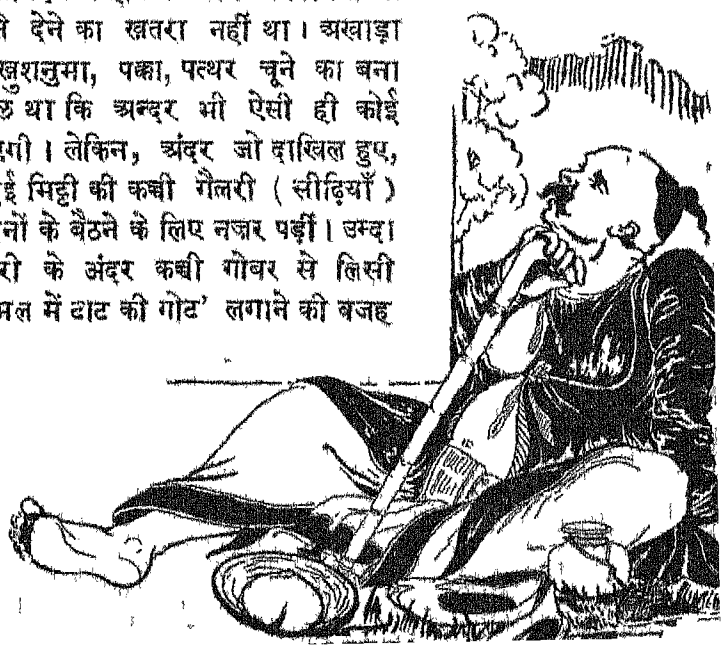

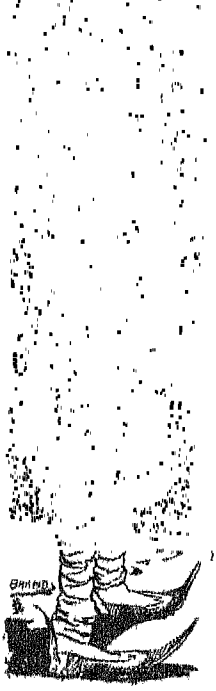

हीं आई। मेला कमेटी के पास पैसे का 'साइण्टिफिक उसूल' था बैठने तक तो यही तीन वजह ईजानिब आसपास चक्कर काट रही हैं।

न जो मालूम हुई, तो सोचा कि ी 'टिन शेड' की बेंच पर भले ठा जाए। लेकिन कहीं बेंच पर ौर देहातियों की तरह जमीन पर गता था। आखिर घूमते हुए एक ी 'टिन शेड' मिला। तबियत खुश क पुलिसमैन साहब के जो खड़े बात कर रहे थे और कोई नहीं था। इजानिब लपक के खाली बेंचों पर फिर कहीं भीड़ आकर न जम जावे और ईजानिब टापते रह जावें। तो जैसे ही बेंच पर बैठने के लिए टाँगों की बैसाखी को जरा झुकाया कि पुलिसमैन ने डाटा कि 'बुड्ढे कहाँ बैठता है, यह औरतों के लिए है।' पहले तो ईजानिब को शक हुआ कि शायद अपनी रियासत में भी अब औरतों की पुलिस बन चुकी है और हो न हो यह पुलिसमैन और उनका दोस्त भी उन्हीं में से एक है। लेकिन जब गौर से

देखा तो दोनों ही नोक-पलक से लैस नौजवान मर्द नजर आए। उनकी उठती हुई रेखों में किसी बनावट के या उन दोनों में औरत होना तो दरकिनार जनानेपन के भी कोई चिह्न नहीं दिखाई दिए। तब फिर सोचा कि शायद पुलिसमैन और उनके दोस्त इस नियम से मुक्त रखे गए होंगे। लेकिन एक बात समझ में नहीं आरही थी। मर्द बैठने नहीं पाते तब फिर औरतें क्यों नहीं बैठतीं। बहुत सोचने के बाद दादाजान का सुनाया हुआ एक छोटा-सा किस्सा याद आया। दादाजान कहा करते थे:—

एक बार मच्छरों ने खुदाताला से शिकायत की कि हवा हमें एक जगह टिकने नहीं देती। हवा की तलबी हुई, तो जब हवा इजलास में हाजिर हुई तो मच्छर रुखसत हो गए। हवा के जाते ही मच्छरों ने फिर फरयाद की। खुदाताला ने फरमाया कि जब हवा आई तो तुम मौजूद क्यों नहीं रहे। मच्छरों ने अर्ज की कि हुजूर यही तो शिकायत है कि यह हमें टिकने नहीं देती।

शायद यही वजह औरतों के न बैठने की है। पुलिसमैन साहब के डर की वजह से औरतें दूर रहती होंगी और पुलिसमैन साहब के रहते हुए मर्दों की वजह से औरतों के लिए जगह न रहती होगी।

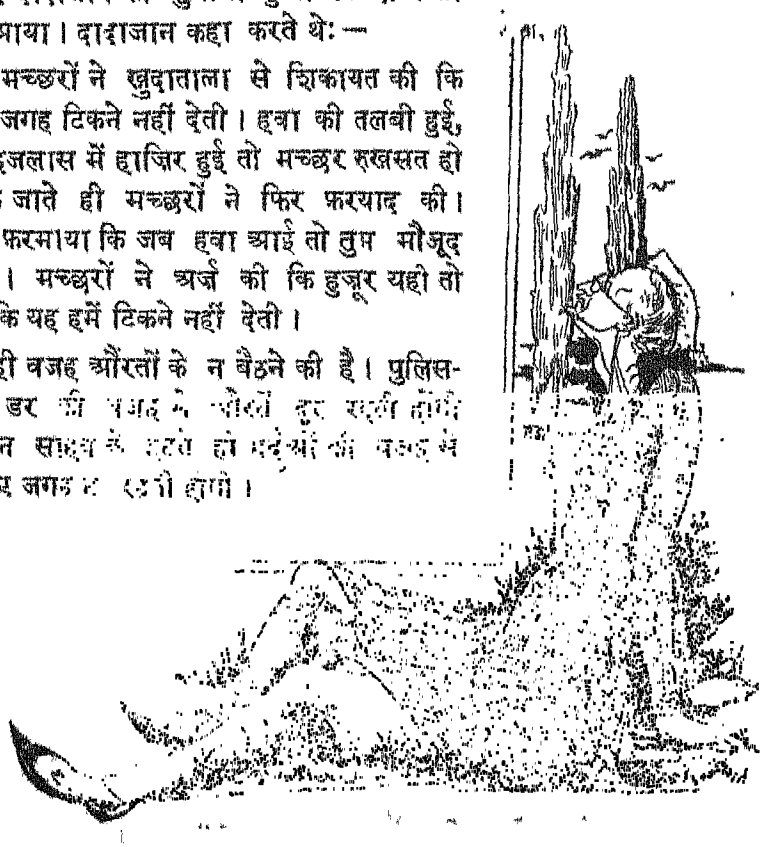

[illegible] पूरे मेले के [illegible] खास बातों का जिक्र ही ज्यादा ठीक होगा।

खादी-भण्डार पर खादी से भड़कने वाले बच्चे, नौजवान और बुड्ढे, सभी तरह के लोगों की भीड़ देख कर ख़याल हुआ कि गांधीजी की शर्त अब पूरी होने को है और अब मुल्क को आज़ादी मिलने में ज़रा भी देर नहीं। लेकिन हमारे लँगोटिया यार शेख़ बजरबट्टू की राय कुछ और ही थी। उनका कहना था कि लड़ाई की वजह से विलायती कपड़ा तो मँहगा हो गया, देशी मिलों का कपड़ा भी—बाबा के मोल हो रहा है। इसलिए मिल के कपड़ों के मुक़ाबिले में खादी सस्ती पड़ने की वजह से मेले में खादी-भंडार के स्टाल पर मौसमी भीड़ थी जो मिल का कपड़ा सस्ता मिलने पर वैसे ही हवा हो जायगी, जैसे जर्मन फौजों ने रूस से 'डबल मार्च' किया था। कुछ देर में कुछ देहाती भाई भी खादी-भण्डार पर नजर पड़े और उन्होंने कहा "गांधी बाबा की दूकान पर पल्टन के उतरे हुए कोटों की इतनी क़ीमत! बड़ा अंधेर है। कबाड़ी की दुकान में तो ३-४ रुपए में बड़ा-सा 'बरानकोट' मिल जाता है।" कहा जाता है कि किसान मुल्क की रीढ़ की

हड्डी है। क्या हमारे सार्वजनिक लीडर कौंसिलों के चक्कर से निकल कर देहातियों को तालीम देने के ठोस काम में पूरा वक्त लगायेंगे। शायद ऐसा न हो सकेगा, क्योंकि हम तो गाँवों में सिर्फ़ बोट लेने जायँगे।

जरा देर में दोनों दोस्त घूमते हुए एक दुकान के सामने पहुँचे और उधर जरा गौर से देखना पड़ा कि इस दुकान का आधा दरवाजा खुला और आधे पर पर्दा क्यों है? पहले तो सन्देह हुआ कि शायद दूकानदार साहब ने औरतों के बैठने का विशेष प्रबन्ध किया होगा। लेकिन कुछ ग़ौर से देखने पर उस पर्दे के पीछे से मर्दुए कला-बाजी खेलते नजर आए। पर्दे के पीछे पाँच-सात जगह से टेढ़ी-मेढ़ी एक अजीब तरह की कुर्सी थी, और उस पर एक 'क्लीन शेव्ड' (सफ़ाचट) भले आदमी बैठे हुए हैं और दूसरे साहब उन्हें उस कुर्सी पर बैठा कर सिर की तरफ़ से औंधा किए दे रहे हैं। शक हुआ कि यह दूकान शायद जापानी क़सरत सिखाने को है। सुना है उसमें कुछ इसी तरह आड़े तिरछे तरीक़े (लक़ा क़बूतरी ढंग) से क़सरत कराई जाती है। मगर शेख बजरबट्टू ने हमें बताया कि खड़े हुए साहब दूसरे साहब की ठोड़ी उठा कर और मुँह फाड़कर दाँत देख रहे हैं और यह डॉक्टर का

दूकान मालूम देती है। मैंने कहा कि यह साहब शायद फ़ौज में भरती होने के लिए डाक्टरी करा रहे हैं। क्या इन्सान की उम्र का पता भी अब दाँत देखकर लगाने का तरीक़ा ईजाद हो गया है। पुराने ज़माने में तो सिर्फ़ जानवरों की उम्र दाँत देख कर जान सकने का तरीक़ा ही ईजाद हो पाया था। लेकिन बजरबट्टू ने बताया कि यह दाँतों के डॉक्टर की दुकान है और डॉक्टर साहब खोखले दाँतों में सिमेंट भर रहे हैं। मेरे लिए यह एक आश्चर्य की बात थी कि किसी दोस्त के यहाँ से एक चुटकी सिमेंट माँगकर एक सींक से दाँत में भर लेने के बजाय डॉक्टर की दूकान पर दौड़ा आना कहाँ की अक़्लमंदी है। लेकिन, बजरबट्टू ने बताया कि दाँतों में भरने का सिमेंट बहुत क़ीमती होता है और एक चुटकी सिमेंट की क़ीमत चार-छै-रुपया हो सकती है। मिट्टी की इस क़ीमत पर ईजानिब को रश्क हो रहा था कि आगे ग्वालियर पॉटरीज़ की दूकान पर काफ़ी धक्कमधक्का देखकर उधर ध्यान बट गया। वहाँ भी एक ताज्जुब नज़र आया। दूकान के जिस हिस्से में उम्दा उम्दा ख़ूबसूरत सामान सजावट से रखा हुआ था, उस तरफ़ बिलकुल सन्नाटा था और जिधर कूड़े कबाड़े की तरह ढेर लगा था, उधर हंगामा मचा

हुआ था, मालूम हुआ कि इधर सस्ते दामों में ऐसा माल बिक रहा था, जिसमें कुछ थोड़ी खराबी थी, और जिसके कुछ अदद चटके हुए भी थे।

मैंने बजरबट्टू से कहा कि ये लोग इन फूटे बर्तनों को ले जाकर क्या करेंगे? बजरबट्टू ने कहा- चाय पियेंगे, अचार-मुरब्बा रखेंगे। मैंने कहा दादाजान तो फूटे बर्तनों का घर में रखना भी मन्हूसियत की निशानी मानते थे। उस जमाने में तो मनहूसों के लिए कहा जाता था कि उनके घर में न टूटा तवा है और न एक फूटी थाली। शेख साहब ने कहा कि तुम्हारे थाली लोटे की तो वही हालत है, बर्तन वालों में जाकर देख लो, फूटे लोटे-थाली घर से लाकर लोग आधी क़ीमत में बेच कर नए खरीद रहे हैं। जिन टूटी-फूटी चीजों की आजकल कद्र है, वे तो इस नए बदले हुए जमाने की ईजाद है। इस बदले हुए जमाने में मिट्टी सोने के मोल बिकती है। दाँतों के सिमेंट और चीनी के बर्तनों की क़द्र तुम अपनी आँखों से देख ही रहे हो। मैंने कहा कि जमाने में बड़ी तब्दीली हो गई है? शेख साहब ने फ़रमाया कि [illegible] कहते थे कि चिराग के नीचे अंधेरा होता है और अब जमाने की तरक्की ने उसे बदल दिया है। [illegible]

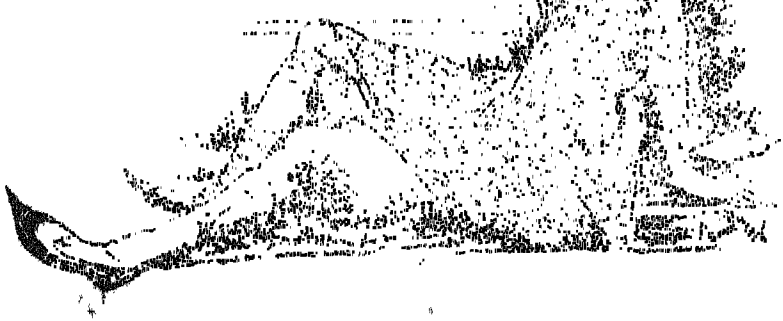

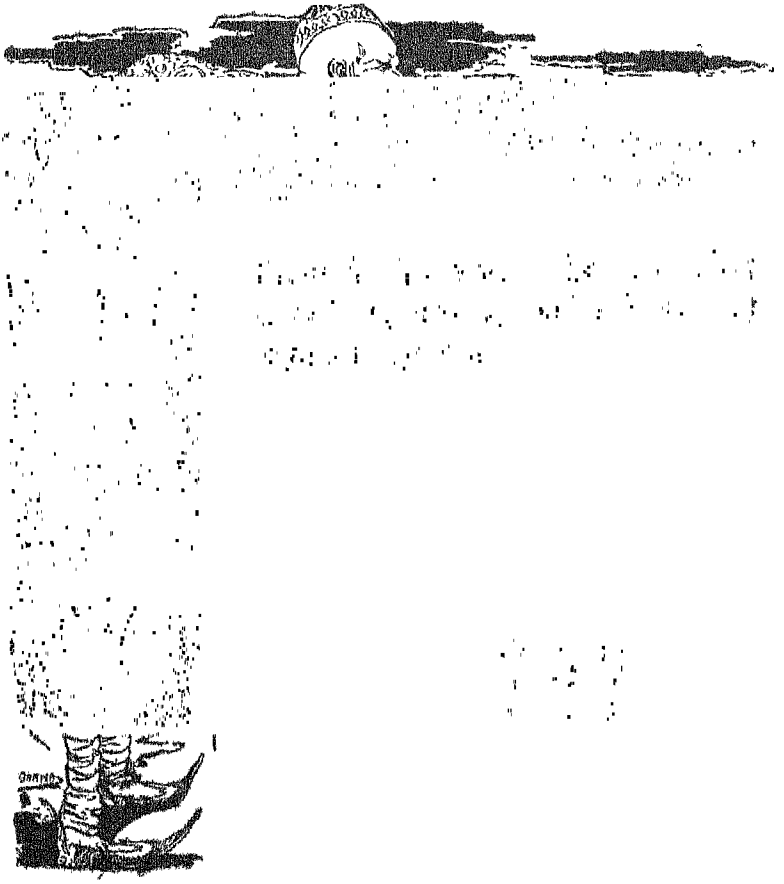

होता है
पते की

शा अँ
ह का दे
र शा

सीटी बज गई

ईजानिब चंडूबाजों के साथ चंडूबाज और राजनीतिज्ञ लोगों के साथ राजनीतिज्ञ होने का दम भरते हैं, इसलिए लोकप्रिय हैं। कभी अगर आप हमें किसी बड़े लीडर के साथ एकदम 'सीरियस' होकर अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए महत्त्वपूर्ण मसलों पर गौर करते पाएँगे तो कभी पड़ौस के कलुआ तेली को ढोलक के साथ ताल देते।

अपनी इसी लोकप्रियता की वजह से हम कभी-कभी बड़े बेढब जा फँसते हैं। एक मरतबा कालिज के कुछ लौंडों ने ईजानिब को जो धर पकड़ा तो खेल के एक मैदान में हॉकी-मैच देखने ले पहुँचे। वहाँ एक बड़ा दिलचस्प वाक़या होगया। हाफ टाइम के बाद खेल जब बिल्कुल बीचोंबीच में था और जान की बाजी लगी हुई थी, अचानक एक टीम के लोगों के हाथ अच्छा मौका लगा।

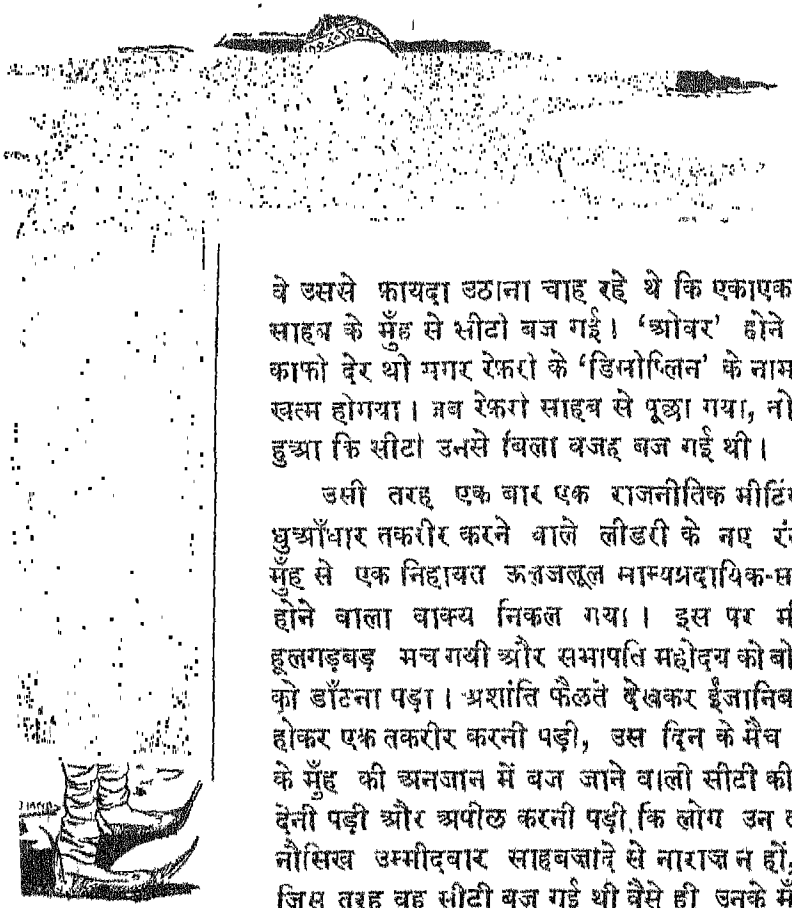

वे उससे फ़ायदा उठाना चाह रहे थे कि एकाएक 'रेफ़री' साहब के मुँह से सीटी बज गई। 'ओवर' होने में अभी काफ़ी देर थी मगर रेफ़री के 'डिसीप्लिन' के नाम पर खेल खत्म होगया। जब रेफ़री साहब से पूछा गया, तो मालूम हुआ कि सीटी उनसे बिला वजह बज गई थी।

उसी तरह एक बार एक राजनीतिक मीटिंग मे एक धुआँधार तकरीर करने वाले लीडरी के नए रंगरूट के मुँह से एक निहायत ऊलजलूल साम्यप्रदायिक-सा मालूम होने वाला वाक्य निकल गया। इस पर मीटिंग में हूलगड़बड़ मच गयी और सभापति महोदय को बोलने वाले को डाँटना पड़ा। अशांति फैलते देखकर ईजानिब को खड़े होकर एक तकरीर करनी पड़ी, उस दिन के मैच के रेफ़री के मुँह की अनजान में बज जाने वाली सीटी की मिसाल देनी पड़ी और अपील करनी पड़ी कि लोग उन लीडरी के नौसिख उम्मीदवार साहबजादे से नाराज न हों, क्योंकि जिस तरह वह सीटी बज गई थी वैसे ही उनके मुँह से वह बेहूदा जुमला निकल गया। उनके दिल और दिमाग में न तो वह बात थी और न वे उसे कहना चाहते थे। बस निकल ही गई।

इसी तरह का एक ताजा वाक़या एक शहर में हाल

सीटी बज गई

शहर का अँदेशा

ही में हवाई हमले से बचाने वाले महकमे के किसी मुलाज़िम की ग़लती से होगया, यानी बिला किसी वजह के हवाई हमले के ख़तरे का भोंपू बज गया। इस पर अफ़सरों ने ऐलान किया कि वह बिला वजह बज गया था मगर उससे हम लोगों की तैयारी और मुस्तैदी का इम्तिहान होगया। किसी अख़बार से पढ़कर जब हमारे दोस्त शेख़ बजरबट्टू ने यह ख़बर हमें सुनाई तो हमें भी अपने वे पिछले दो दिलचस्प तजुर्बे सुनाने पड़े। इस पर हम दोनों तो ख़ूब हँसे ही, परदे के पीछे से हमारी बीबी साहिबा को भी क़हक़हा लगाना पड़ा।

???

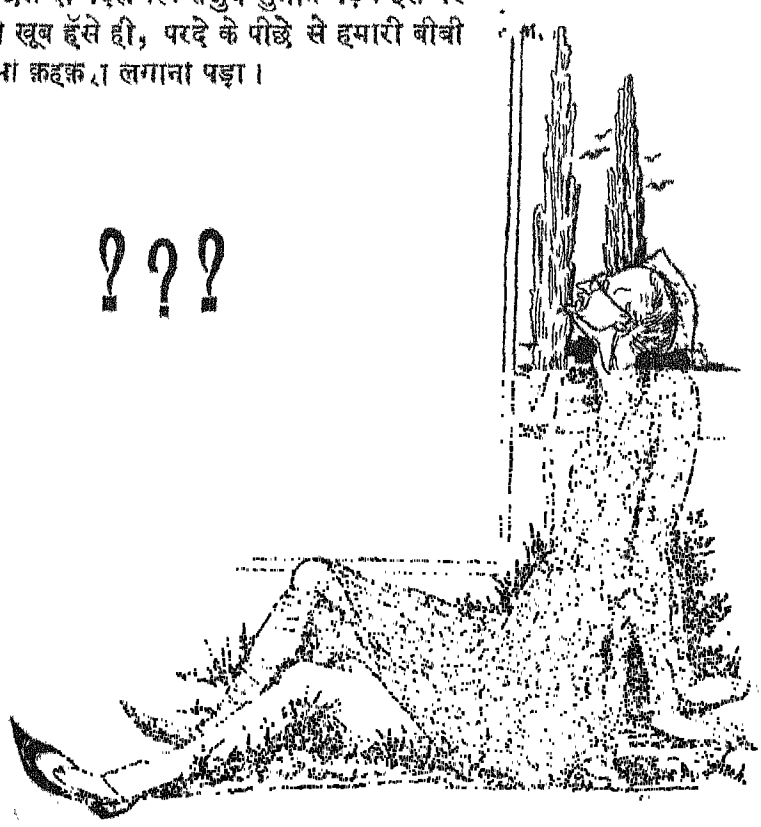

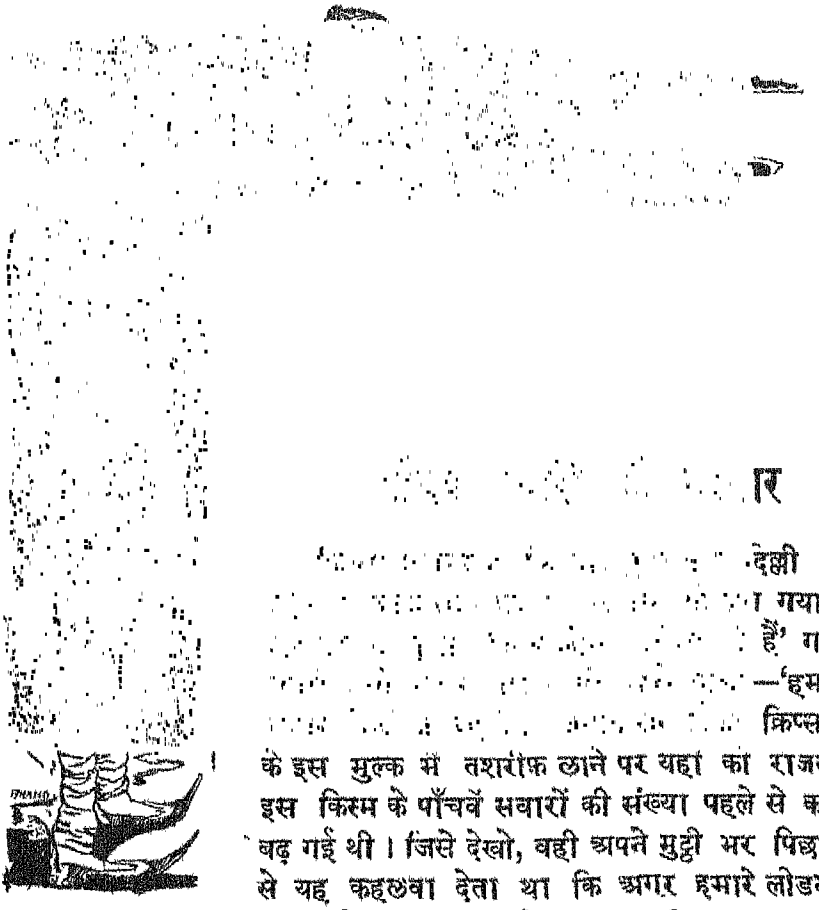

[illegible]र

[illegible] देल्ली को जा [illegible] गया। एक [illegible] हैं' गधेवाला [illegible] —'हम पाँचों [illegible] क्रिप्स साहब के इस मुल्क में तशरीफ़ लाने पर यहां का राजनीति में इस किस्म के पाँचवें सवारों की संख्या पहले से कई गुनी बढ़ गई थी। जिसे देखो, वही अपने मुट्ठी भर पिछलगुओं से यह कहलवा देता था कि अगर हमारे लीडर फलाँ साहब को बुलाकर उनको राज़ी न किया गया, तो हम क्रिप्स साहब की लाई हुई विलायती मिठाई इस मुल्क को पसंद ही न करने देंगे और यदि पसंद कर भी ली गई तो हलक़ के नीचे न उतरने देंगे और यदि हलक़ के

नीचे उतर भी गई तो हजम न होने देंगे। इन पाँचवें सवारों को इससे कोई सरोकार नहीं था कि मिठाई किसी काबिल भी थी या नहीं। इन्हें तो इस बात का ज्यादा खयाल था कि इन्हें मुल्क का लीडर माना जाता है या नहीं। उस वक्त जनाब क्रिप्स साहब की हालत उस बनिए की-सी हो रही थी, जो अपने तराजू-बाटों से मेढ़कों को तौलना चाहता था। एक को रखते थे तो दूसरा उचक कर तराजू के बाहर भाग जाता था। उसे सँभालते थे तब तक तीसरा उचकता था। रूसी भालू की नाक में नकेल डालकर उसे ठिकाने पर ले आने वाले मशहूर मदारी सर क्रिप्स साहब ठंडे दिमाग और मजबूत आसन के असली हिन्दुस्तानी राजनीतिक लीडरों से शायद उतने परेशान न हुए थे, जितने इन मेंढ़क की आदत वाले हिन्दुस्तानी राजनीति के पाँचवें सवारों से।

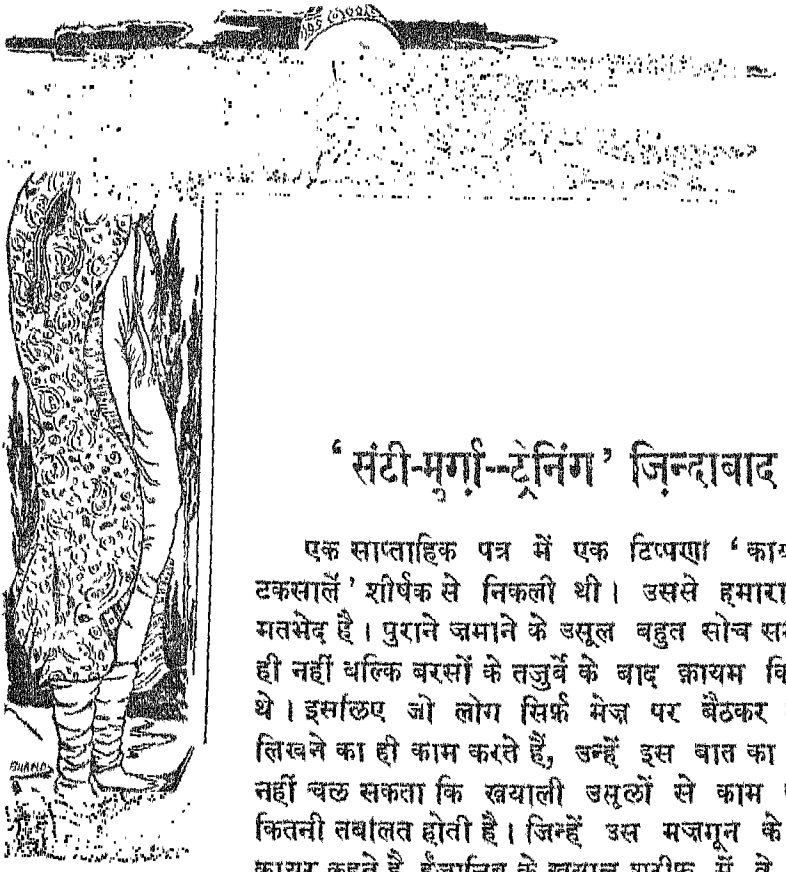

'संटी-मुर्ग़ा--ट्रेनिंग' ज़िन्दाबाद

एक साप्ताहिक पत्र में एक टिप्पणी 'कायरों की टकसालें' शीर्षक से निकली थी। उससे हमारा गहरा मतभेद है। पुराने ज़माने के उसूल बहुत सोच समझ कर ही नहीं बल्कि बरसों के तजुर्बे के बाद क़ायम किए गए थे। इसलिए जो लोग सिर्फ़ मेज़ पर बैठकर मज़मून लिखने का ही काम करते हैं, उन्हें इस बात का पता ही नहीं चल सकता कि ख़याली उसूलों से काम करने में कितनी तबालत होती है। जिन्हें उस मज़मून के लेखक कायर कहते हैं, ईजानिब के ख़याल शरीफ़ में वे फ़रमा-बरदार की तारीफ़ में आते हैं और उनके 'बहादुर' हुकुम-उदूली करने वाले। ईजानिब ख़याली पुलाव नहीं पकाते बल्कि नज़ीर से साबित कर देते हैं। खरी-खरी कहने वाले के पैरों के नीचे, थोड़ी सी ही सही, ज़मीन की भी ज़रूरत

पड़ती है। इसलिए ईजानिब की खरी-खरी के साथ निजी अनुभव, नानी की कहानी या दादाजान का कोई किस्सा नत्थी रहता है।

अच्छा सुनिए, जब हम पढ़ाई के एक जेलखाने मे कैद थे, उस वक्त मास्टर हुक्म देता था, 'बैंच पर खड़े हो जाओ' फौरन तामील करनी पड़ती थी। हुक्म होता 'मुर्गा बन जाओ,' क्लास-का-क्लास—मुर्गा बना नजर आता था। तामील न करने पर डंडे की मार जो पड़ती थी। हमारे जिगरी दोस्त पंडित लालबुझक्कड़ साहब हिन्दू मजहब की पुरानी किताबों का जिक्र करते हुए बताया करते थे कि पुराने जमाने मे ऋषि-मुनि नाराज होकर सराप देकर आदमी को जानवर बना देते थे और जब खुश होते तो 'सराप' से आजाद करके फिर आदमी बना देते थे। उस वक्त तो यह बात कुछ कम समझ में आती थी कि आदमी जानवर कैसे बनाया जा सकता है, लेकिन अब समझ में आता है कि कुछ ऐसा ही ढंग रहा होगा। हमारे स्कूली जमाने तक तालीम के नए उसूल ईजाद नहीं हुए थे। [illegible] साहब के फर्क इतना ही था कि पुराने [illegible] 'सराप' [illegible] बरसों ही नहीं कभी-कभी [illegible]

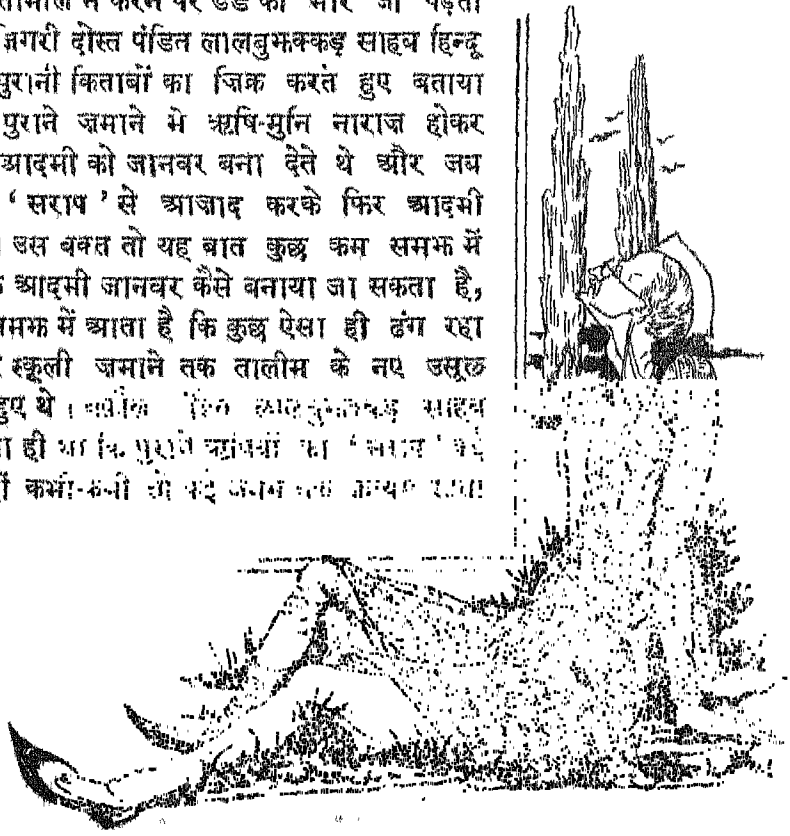

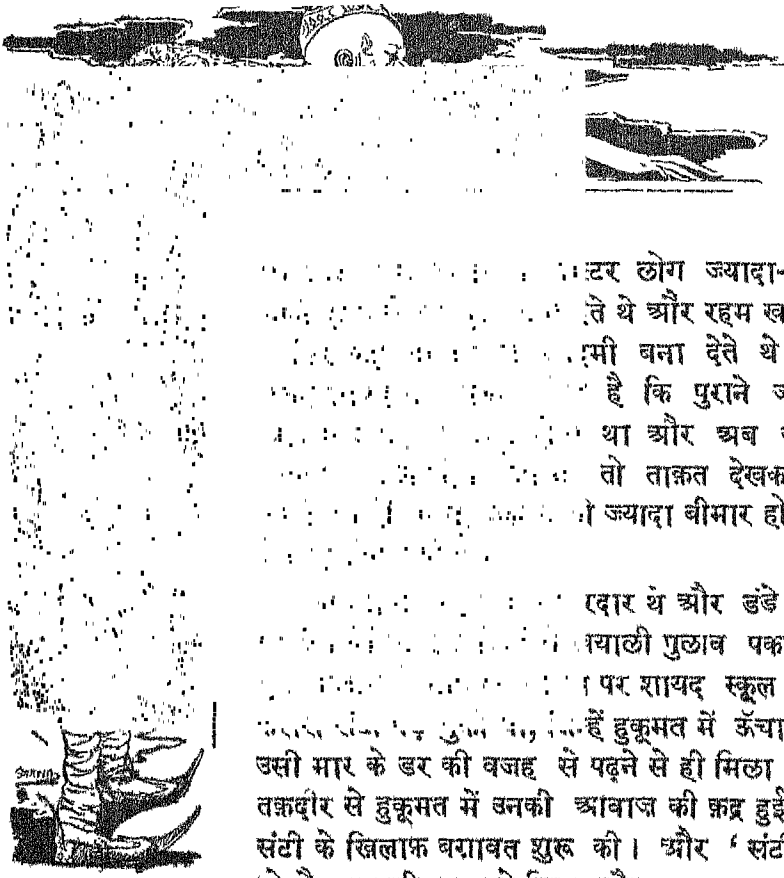

[illegible] टर लोग ज्यादा-से-ज्यादा [illegible] ते थे और रहम खाकर बाद [illegible] मी बना देते थे। इसकी [illegible] है कि पुराने जमाने में [illegible] था और अब उतना ही [illegible] तो ताक़त देखकर ही दी [illegible] ज्यादा बीमार हो जाते हैं,

[illegible] दार थे और डंडे के बल [illegible] याली पुलाव पकाने वाले [illegible] पर शायद स्कूल में कभी [illegible] हैं हुकूमत में ऊँचा ओहदा उसी मार के डर की वजह से पढ़ने से ही मिला था और तक़दीर से हुकूमत में उनकी आवाज की क़द्र हुई तो उसी संटी के खिलाफ बग़ावत शुरू की। और 'संटी चार्ज' को ग़ैर क़ानूनी क़रार दे दिया और जनाब, जब से ये कानून जारी हुए है, तभी से ये स्कूल जिन्हें आप कायरों की टकसालें कहते है, 'मुड़चिरों के अखाड़े' बन गए हैं। जो फ़रमाबरदारी, नई ज़ुबान में 'डिसीप्लिन,' में रहने की आदत पहले नज़र आती थी और जिससे अमनो-

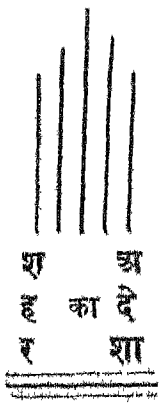

'संटी-मुर्गा—ट्रेनिंग' जिन्दाबाद

अमान में, स्कूल की शान्ति में कोई गड़बड़ पैदा नहीं होती थी अब तो 'नानी की कहानी' रह गई है और लड़के हमारे ज़माने की तहज़ीब के लफ़्ज़ों में निहायत बद-तहज़ीब, हुक्म न मानने वाले और मौजूदा ज़माने के लफ़्ज़ों में "इनडिसीप्लिनरी सीन क्रियेट" करने वाले नज़र आने लगे हैं। रात दिन एक-न-एक किस्सा अख़बारों में देखने को मिलता है। किसी लड़के को स्कूल से निकाला गया कि हड़ताल, किसी एक को सख़्त-सुस्त कहा गया कि सारा क्लास-का-क्लास 'वाक आउट' कर देता है और फिर इन झगड़ों में बड़े बड़े अधिकारियों को ही परेशानी उठानी पड़ती है, यूनीवर्सिटी के सिनेट तक हिल जाते हैं। पहले तो इन लड़कों की हरकतें अपने स्कूल तक ही कायम रहती थीं और अब तो ये पुलिस तक से उलझने लगे हैं। अँग्रेज़ी इलाक़े में ऐसी बहुत-सी नज़ीरें सुनने में आती हैं।

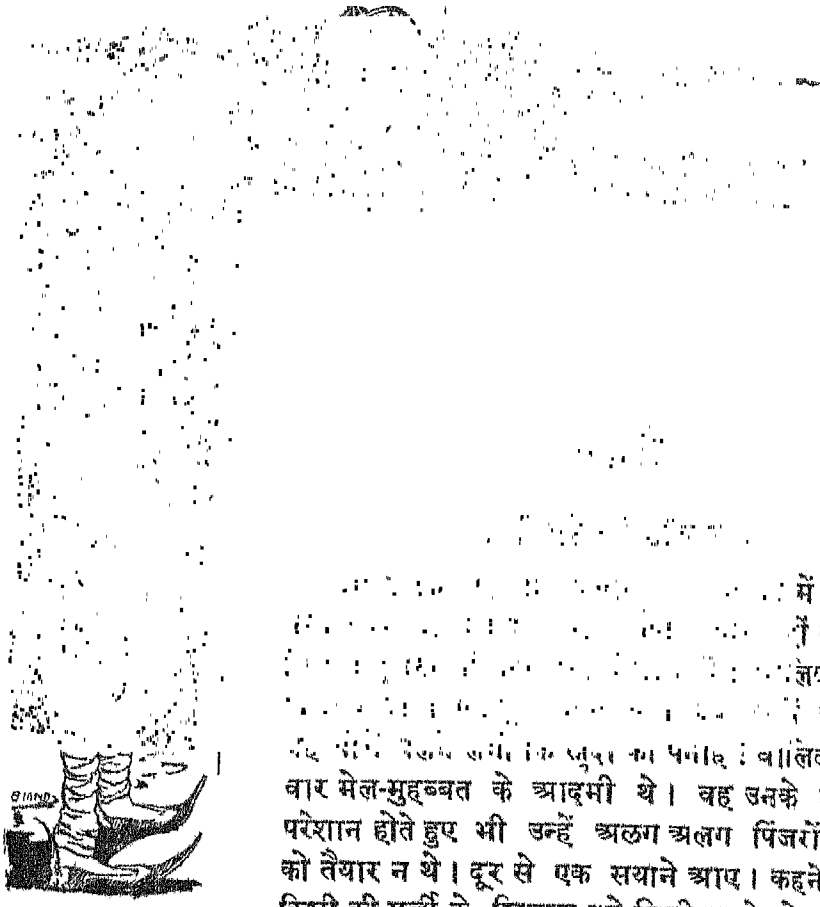

में एक तोता
ों से हथिया
लए एक ही
आपस में
वालिद बुज़ुर्ग-
वार मेल-मुहब्बत के आदमी थे। वह उनके झगड़ों से परेशान होते हुए भी उन्हें अलग अलग पिंजरों मे रखने को तैयार न थे। दूर से एक सयाने आए। कहने लगे कि किसी की मर्ज़ी के खिलाफ़ उसे किसी दूसरे के साथ कैसे रखा जा सकता है? एक दूसरा पिंजरा बनवाइए। साहबजादे को स्कीम पसन्द आई। वालिद साहब की मर्ज़ी के खिलाफ़ उन्होंने नए तोते के लिए नया पिंजरा बनवाकर उसे उसमें रख दिया। मगर झगड़ा फिर भी नहीं मिटा।

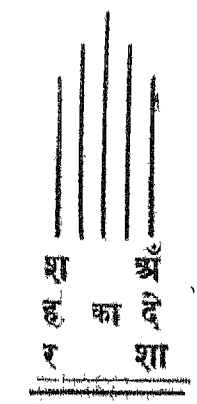

शहर का अँदेशा

एक दूसरे के खिलाफ़ अलग-अलग पिंजरों में भी टाँय-टाँय जारी रही। अब साहबजादे भी परेशान कि एक के दो कर देने पर भी झगड़ा क़ायम ही रहा। दूर के सयाने की सलाह ग़लत साबित हुई। पास ही पण्डित लालबुझक्कड़ साहब रहते थे। पास के होने की वजह से उनकी अक्ल पर किसी को भरोसा न था। अक्सर उनकी सलाहें हवा में उड़ा दी जाती थीं। मगर, इस बार मुसीबत बेढब थी। उन्होंने सलाह दी और वह मानी गई। पण्डित साहब ने फ़रमाया कि झगड़े की जड़ पिंजरा है। एक हों या दो, पिंजरे जब तक रहेंगे, झगड़ा न मिटेगा। पिंजरों के दरवाज़े खोलकर तोतों को आज़ाद कर दीजिए, फिर देखिए कैसे मिलजुल कर रहते हैं। अतएव दोनों को मुक्त कर दिया गया और वे पास ही के एक ही पेड़ की एक ही डाली पर बैठकर चोंच में चोंच मिलाकर एक-दूसरे को प्यार करने लगे।

जनाब पाकिस्तानी तहरीक के लीडर जनाब जिन्ना साहब, मद्रास के पुराने प्रधान मंत्री पण्डित राजगोपालाचारी, मशहूर सोशलिस्ट राजनीतिज्ञ सर स्टेफर्ड क्रिप्स और ग्वालियर के हाल ही के एकता कमेटी के पेटेण्ट मेहमान पण्डित सुन्दरलाल जी की ख़िदमत में यह छोटी-सी कहानी अदब के साथ पेश करते हैं।

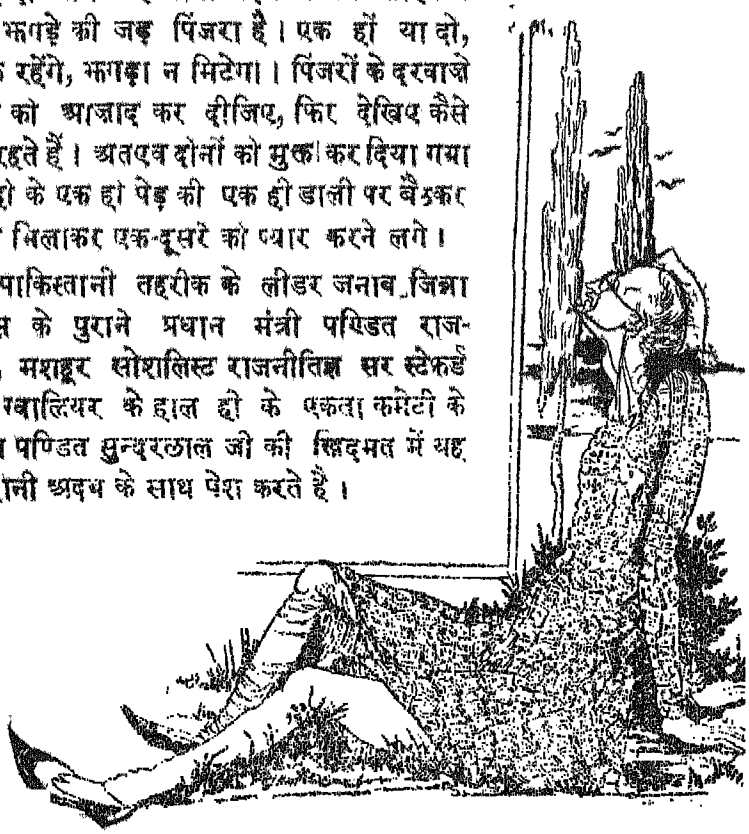

को

जनून को.

ून को।'

ल्ली को गर्मी

नमेण्ट ऑफ

दे दी है कि

र कोट और

कर सकते हैं।

गुलामी से

। और कपड़ों

ब के मर्दों ने

खुद कपड़ों से स्वतंत्रता प्राप्त करने की कोशिश में औरतों को कपड़ों में जकड़ दिया है।

विलायत के लोग भी अब इस मुल्क में रहते-रहते यहाँ के उसूलों पर चलने लगे हैं। पहले तो उन्होंने ठण्डे मुल्कों के कपड़ों का बोझ यहाँ के नौकरी के टट्टुओं पर एक-दम लाद दिया था। अब वे इस मुल्क का नमक खाने वालों को इसी मुल्क के उसूलों पर चलाने की कोशिश करने लगे हैं।

मुमकिन है, धीरे-धीरे पतलून नेकर के बाद लँगोटी की शक्ल अख्तियार करले और लँगोटी लगाकर दफ्तर में काम करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय।

३. कबूतर

कुछ सुना आपने। भारत सरकार ने इस ख़याल से कि तेज़ उड़ान वाले कबूतरों की मदद से कहीं दुश्मन तक खबरें न पहुँचाई जा सकें, यह हुक्म दिया है कि कबूतरों पर भी लायसंस लगेगा। सरकार की बंदिश से पूर्णतः सहमत होते हुए भी ईजानिब का दिल यह मानने को तैयार नहीं होता कि ऐसा भोला जानवर, जिसकी मीठी और उनींदी आँखें, हँसती हुई गरदन और प्यारी गुटरगूँ आप कभी भूल ही नहीं सकते, दुश्मनों की मदद करेगा! दादाजान के उस शेर का ख़याल हो आता है, जिसे वह अपने लक्का की उड़ान को देखते-देखते धीरे-धीरे गुनगुनाने लगते थे :—

'ख़त कबूतर किस तरह ले जाय बामे-यार पर,
पर कतरने को लगी हैं कैंचियाँ दीवार पर।'

और फिर ख़ुद ही जवाब देते थे :—

'ख़त कबूतर इस तरह ले जाय बामे-यार पर,
पर ही पर नामा लिखें और पर कटें दीवार पर।'

बदल गया
पेचीदगियाँ
ओं पर जा
पहुँचे, तो

में तेज दो-
ने के पहले
दें। दरबा

ी सरकार

यह सोच रही है कि जल्द ही वहाँ के होटलों को हुक्म दिया जाय कि वे एक दिन में सिर्फ़ तीन मरतबा खाना खिलाया करें। दिन में ६ मरतबा खाना खाने वाले साहबों को सिर्फ़ ३ मरतबा खाना दिया जाना पूरी ५० फ़ी सदी की बचत है। लड़ाई की मुसीबत की वजह से खाने-पीने की चीजों का जो टोटा पड़ रहा है; उसे देखते हुए यह मुनासिब ही मालूम देता है। ईजानिब को डर है कि आने वाले ज्यादा नाजुक जमाने में कहीं हिन्दुस्तान की सरकार को भी लोगों को खाने में पचास फ़ी सदी की

कमी करने का हुक्म न देना पड़े। फिर तो चौबीस घण्टों में एक मरतबा खाने वालों को अधपेट खाना लाजिमी होगा और तीन बार खाने वालों को डेढ़ बार। बदहज़मी के मरीज रईसों को उस वक्त खास तसल्ली मिलेगी यह देख कर कि वर्षों बाद उनकी तरह कम खाने वालों की तादाद इस मुल्क में बेहद बढ़ रही है।

???

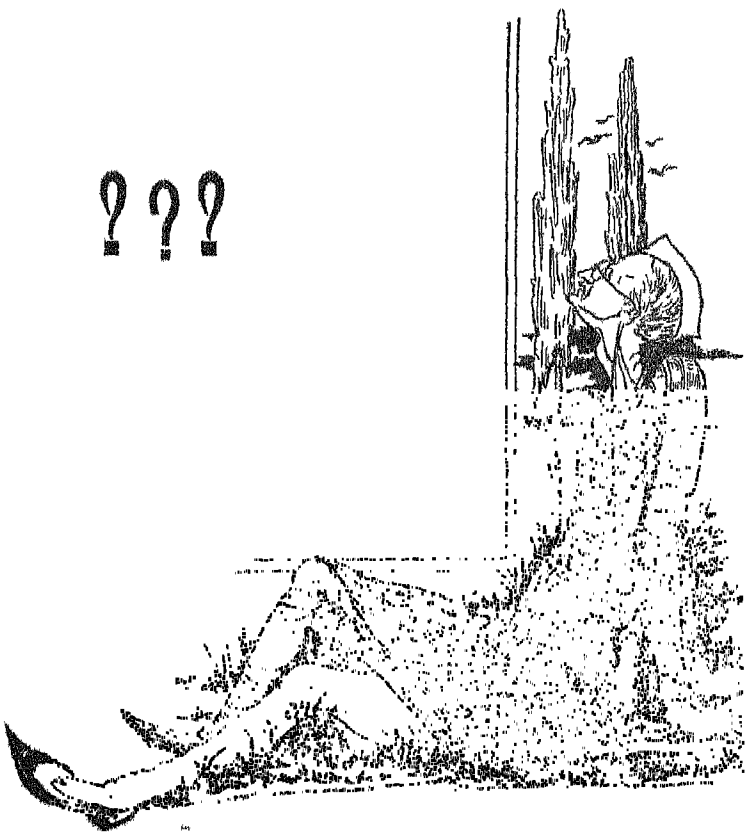

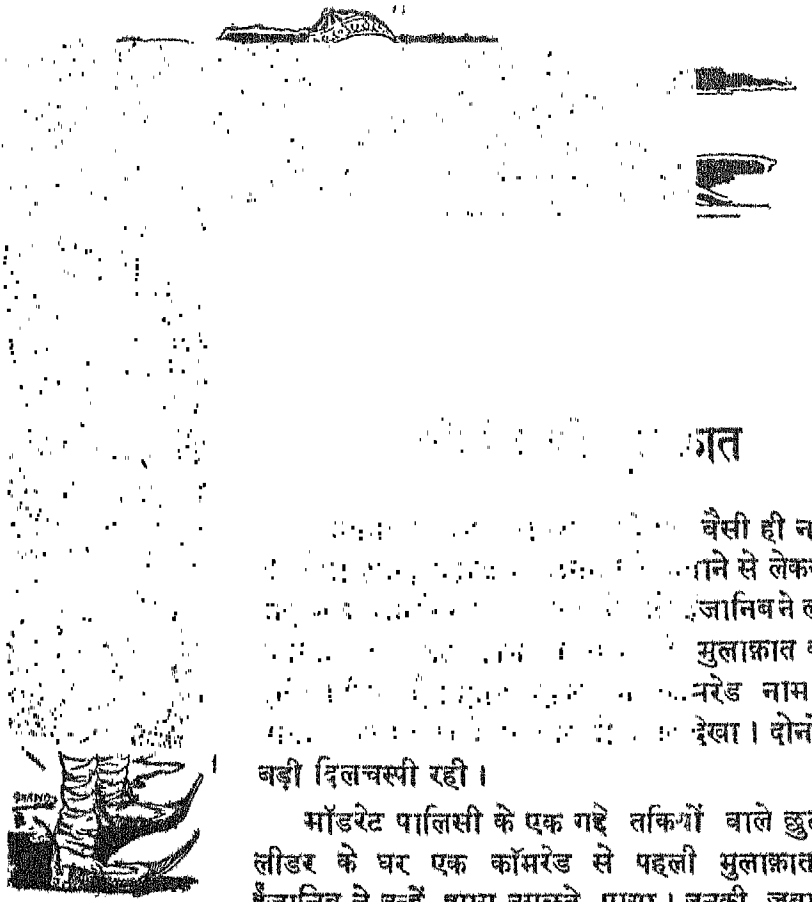

[illegible]गत

[illegible] वैसी ही नई चीज [illegible]ाने से लेकर हवाई [illegible] जानिब ने लखनवी [illegible] मुलाक़ात का फ़र्ज़ [illegible]नरेड नाम के एक [illegible] देखा। दोनों जगह बड़ी दिलचस्पी रही।

मॉडरेट पालिसी के एक गद्दे तकियों वाले छुटभइया लीडर के घर एक कॉमरेड से पहली मुलाक़ात हुई। ईजानिब ने उन्हें आग उगलते पाया। उनकी जबान इस तेजी से चल रही थी कि फ्रंटियर मेल या डेक्कन क्वीन का इंजिन भी झक मारे।

छुटभइया लीडर ने खीस निपोर कर एक नई बात पैदा करने की कोशिश की। बोले—'काम में रेड लगावे,

वह कॉमरेड !' कॉमरेड ने फ़ौरन ईंट के जवाब में पत्थर ही नहीं बम-सा फेंका—'आप और आप लोगों के आक़ा, ग़रीब पब्लिक को पैर रखने का पत्थर बनाकर, हुकूमत से मिलकर षड्यंत्र करते और इस तरह अपना काम बनाना चाहते हैं। ऐसे काम में रेड़ लगाना हमारे लिए गौरव की बात है।' ईंजानिब इस जबानी बमबारी के जवाबी हमले से दहल गए और उन साहब का मुँह उतर गया।

इसके बाद एक दिन उन्हीं कॉमरेड को एक मीटिंग में हिन्दू-मुसलिम-एकता पर धुँआधार भाषण करते सुना। पहले ही हत्थे उन्होंने बुज़ुर्ग और मोटी तनख्वाह पर सरकारी नौकरी में लगे हुए सदर साहब को 'कॉमरेड प्रेसीडेंट' कह डाला। एकता के सिलसिले में उन लोगों के भी भाषण रखे गए थे, जो फिरकेदाराना जमातों में उस ढंग की तक़रीरें किया करते हैं। उन्हें फीका बनाने की ग़रज़ से कॉमरेड ने गरज कर कहा—'हिन्दू-मुसलिम-भेद-भाव कुछ नहीं।' यह सारी लड़ाई रोटी की लड़ाई है। भेदभाव हिन्दू-मुसलिम का नहीं, अमीर-ग़रीब का है। ग़रीबों की रोटी का सवाल जहाँ कम्यूनिज़्म से हल हुआ, वे हिंदू-मुसलिम होने के नाते आपस में लड़ने से कतई

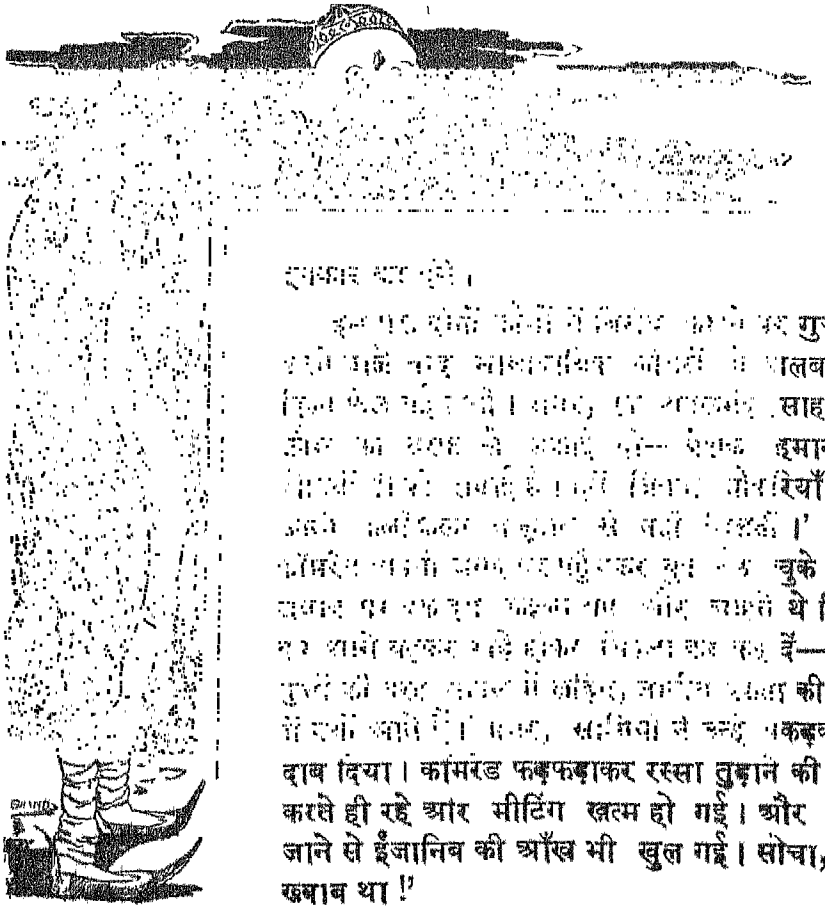

इकरार कर लिया।

[illegible] गुजर-बसर [illegible] मालवता हौल [illegible] साहब ने एक [illegible] हमारी लड़ाई [illegible] तोपरियाँ चाहिएँ, [illegible] ।' तब तक [illegible] पहुँचकर [illegible] चुके थे। इस [illegible] थे कि लपक [illegible] दें—'तो फिर [illegible] की मीटिंगों [illegible] पकड़कर वहीं दाब दिया। कामरेड फड़फड़ाकर रस्सा तुड़ाने की कोशिशें करते ही रहे और मीटिंग खत्म हो गई। और सुबह हो जाने से इंजानिब की आँख भी खुल गई। सोचा, अजीब ख्वाब था!'

शहर का अँधेरा

एक—दो—तीन

[एक]

मियाँ शौकत थानवी ने एक कहानी लिखी थी 'स्वदेशी रेल'। उन्होंने उसके बहाने हिन्दुस्तानियों की बद इंतजामी का मजाक उड़ाया था और आगे आने वाले जमाने की एक खयाली और भोंडी तसवीर खींची थी। ईजानिब ऐसे ज्योतिषियों के किस्सों को सिर्फ पढ़ कर छोड़ देते हैं और जिन्दगी की ठोस सचाइयों की नींव पर खड़े होना पसन्द करते हैं। मगर, बाज़ दफ़ा, बड़ी बेढब सचाइयों से साबिक़ा पड़ जाता है।

बद क़िस्मती के मारे एक दिन जा फँसे ग्वालियर लाइट रेलवे के चक्कर में। चूँकि लड़ाई की वजह से पैट्रोल बग़ैरा पर कन्ट्रोल हो गया है और बड़े बड़े मोटर-बाज़ साइकिलों या बग्गियों पर चलने लगे हैं, इसलिए हमने भी मोटर-लॉरियों की आदत छोड़ने की ग़रज़ से

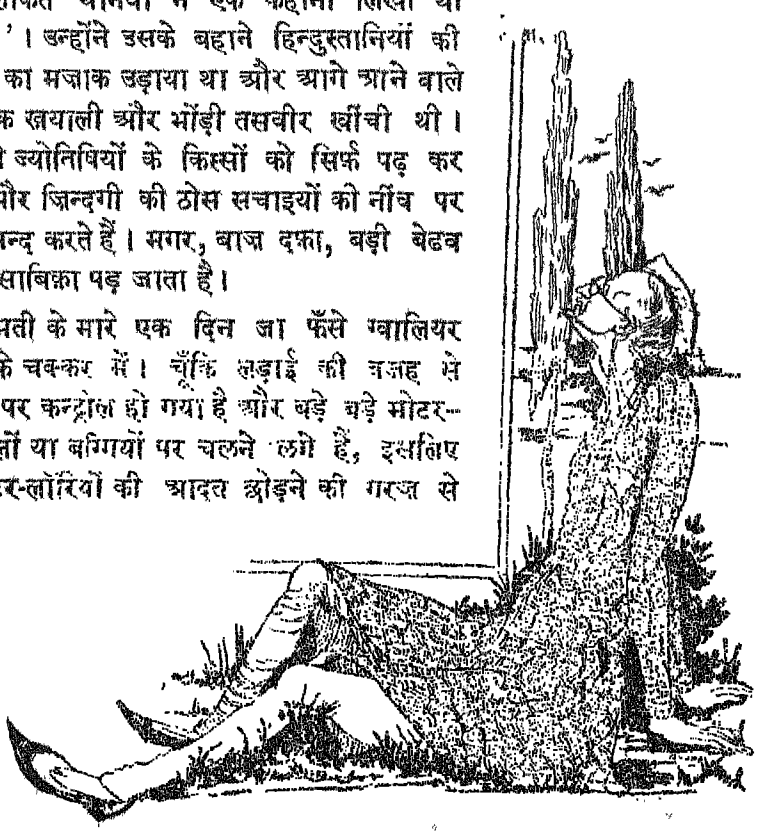

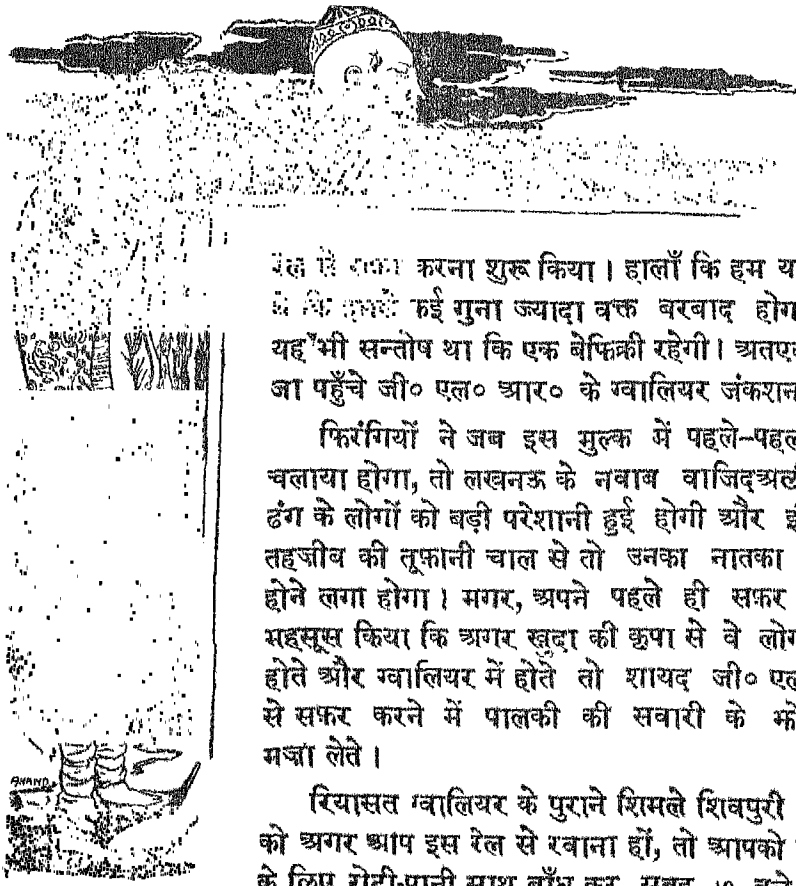

रेल से सफ़र करना शुरू किया। हालाँ कि हम यह जानते थे कि इससे कई गुना ज्यादा वक्त बरबाद होगा, मगर यह भी सन्तोष था कि एक बेफिक्री रहेगी। अतएव जनाब, जा पहुँचे जी० एल० आर० के ग्वालियर जंकशन पर।

फिरंगियों ने जब इस मुल्क में पहले-पहल इंजिन चलाया होगा, तो लखनऊ के नवाब वाजिदअलीशाह के ढंग के लोगों को बड़ी परेशानी हुई होगी और इंजिन की तहजीब की तूफ़ानी चाल से तो उनका नातका ही बन्द होने लगा होगा। मगर, अपने पहले ही सफ़र से हमने महसूस किया कि अगर खुदा की कृपा से वे लोग आज होते और ग्वालियर में होते तो शायद जी० एल० रेलवे से सफ़र करने में पालकी की सवारी के झोंकों का मजा लेते।

रियासत ग्वालियर के पुराने शिमले शिवपुरी की सैर को अगर आप इस रेल से रवाना हों, तो आपको दिन-भर के लिए रोटी-पानी साथ बाँध कर सुबह ७ बजे स्टेशन पहुँचना पड़ेगा, क्योंकि बीच में इसकी कोई उचित व्यवस्था नहीं। मगर, धूल के तूफ़ान के बीच से पालकी की तरह झूमती-झामती बचकानी रेलगाड़ी जब जनवासे की चाल से चलती है, तो वाक़ई नवाबी जिन्दगी का मजा आजाता

है और जब शिवपुरी पहुँचते-पहुँचते शाम हो जाती है, तब तो स्वर्ग शायद सिर्फ़ दो-चार अँगुल ही दूर रह जाता है।

शायद लखनवी तकल्लुफ़ का ही ख़याल करके बला की सँकड़ी सँकड़ी पटलियाँ बैठने को बनाई गई हैं! कैसे छोटे-छोटे और सर को छूने वाली नीची-नीची छतों वाले सण्डास हैं! कैसे कैसे उजड़े दयार के से नज़ारे पेश करने वाले पुरानी तहज़ीब के निशानों की धज के स्टेशन हैं! बीड़ी-सिगरेट, पान, मूँगफली, पिंडखजूर, मिठाई, आम और अमरूद सब की पचमेल सप्लाई एक ही में रखने वाले और गाड़ी के साथ ही चलते-चलते बेचने वाले बाँके वेण्डर हैं!

सफ़र के तजुर्बे से ख़याल आया कि शायद यह रेलवे मुसाफ़िरों को शुतुरमुर्ग़ समझती होगी और सोचती होगी कि लोग पहले से दिनभर के लिए पेट में पानी भरकर चलेंगे। तभी तो इसने शायद अपनी तरफ़ से स्टेशनों पर पानी का कोई इन्तज़ाम नहीं रखा है। दूसरी रेलवे कम्पनियाँ पानी के दाम किराए में पहले से काट लेती हैं, मगर यह रेलवे सिर्फ़ एक जगह से उठाकर दूसरी जगह पहुँचा देने का किराया लेती है, बीच में पानी देने की

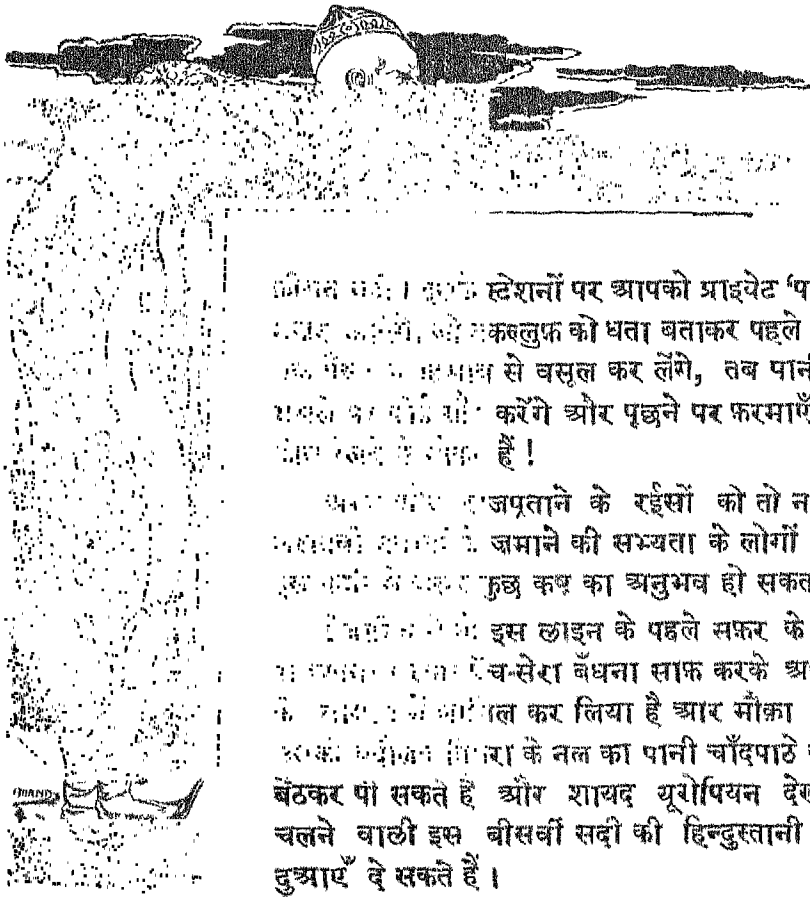

[illegible] । [illegible] स्टेशनों पर आपको प्राइवेट 'पानी-पाँडे' [illegible] कब्लुफ़ को धता बताकर पहले फ़ी लोटा [illegible] से वसूल कर लेंगे, तब पानी देने के [illegible] करेंगे और पूछने पर फ़रमाएँगे कि हम [illegible] हैं !

[illegible] राजपूताने के रईसों को तो नहीं मगर [illegible] जमाने की सभ्यता के लोगों को सिर्फ़ [illegible] कुछ कष्ट का अनुभव हो सकता है ।

[illegible] इस लाइन के पहले सफ़र के बाद ही [illegible] ऐंच-सेरा बँधना साफ़ करके अपने सफ़र [illegible] कर लिया है और मौक़ा पड़ने पर [illegible] के नल का पानी चाँदपाठे के किनारे बैठकर पी सकते हैं और शायद यूरोपियन देख-रेख में चलने वाली इस बीसवीं सदी की हिन्दुस्तानी रेल को दुआएँ दे सकते हैं ।

[दो]

हमारी तरह सबको तो इतनी फ़ुरसत नहीं होती कि मोटर-लॉरी से चलना छोड़कर इस 'नवाबी' रेलगाड़ी से सफ़र करें । लिहाज़ा बहुत से जल्दबाज़ जी० एल० आर० को छोड़कर ग्वालियर ॲण्ड नार्दन इण्डिया ट्रान्सपोर्ट

शहर का अँदेशा

कम्पनी की मोटर लॉरियों से सफ़र करते हैं। मगर एक दफ़ा अपने जी० एल० आर० के मज़ेदार सफ़र में हमें जी० एन० आई० टी० के एक पुराने मजनूँ नज़र आए। हमें यह देखकर ताज्जुब हुआ कि वह हज़रत जी० एन० आई० टी० की अपनी पुरानी मोहब्बत को धता बताकर जी० एल० आर० के जंजाल में कैसे आ फँसे! पूछने पर उन्होंने अपने टूटे हुए दिल की दास्तान यूँ सुनाई :—

बड़े मियाँ क्या कहें! बड़ा आराम रहता था। सुबह दिल्ली से चलकर शिमला की सैर करके शाम को दिल्ली वापस! ऐसा ही कुछ हाल था। मोटर के सफ़र के क्या कहने! मगर एक मरतबा मेरे साथ जी० एन० आई० टी० की एक मोटर लॉरी ने ऐसी बेवफ़ाई की कि जिन्दगी भर याद रहेगी! अजी बिलकुल "कभी गाड़ी नाव पर और कभी नाव गाड़ी पर" वाला किस्सा कर दिया। संगदिल एन जंगल के बीचों-बीच फ़ेल हो गई। ऐसी कि टस से मस होने का नाम नहीं। मुसीबत के मारे ग़रीब मुसाफ़िर हैं कि ठेल रहे हैं! मुरदे में धड़कन आना तो मुमकिन, मगर इसकी धड़कन शुरू होना नामुमकिन है! और उस वक्त तो दिल पर साँप ही लोट गया, जब देखा कि काफ़ी देर से पहुँचने वाली यह मरियल रेलगाड़ी बगल से

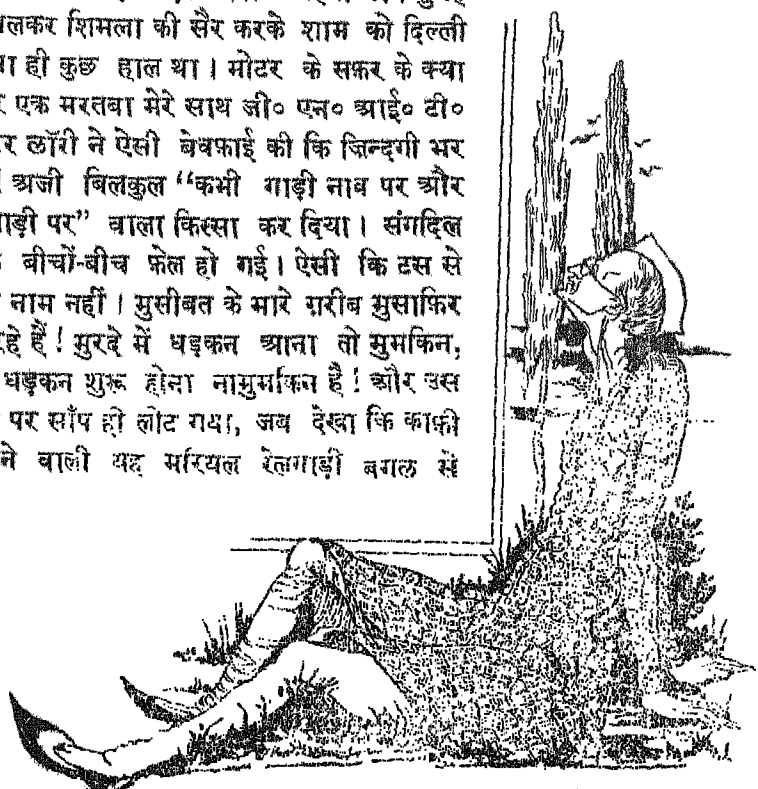

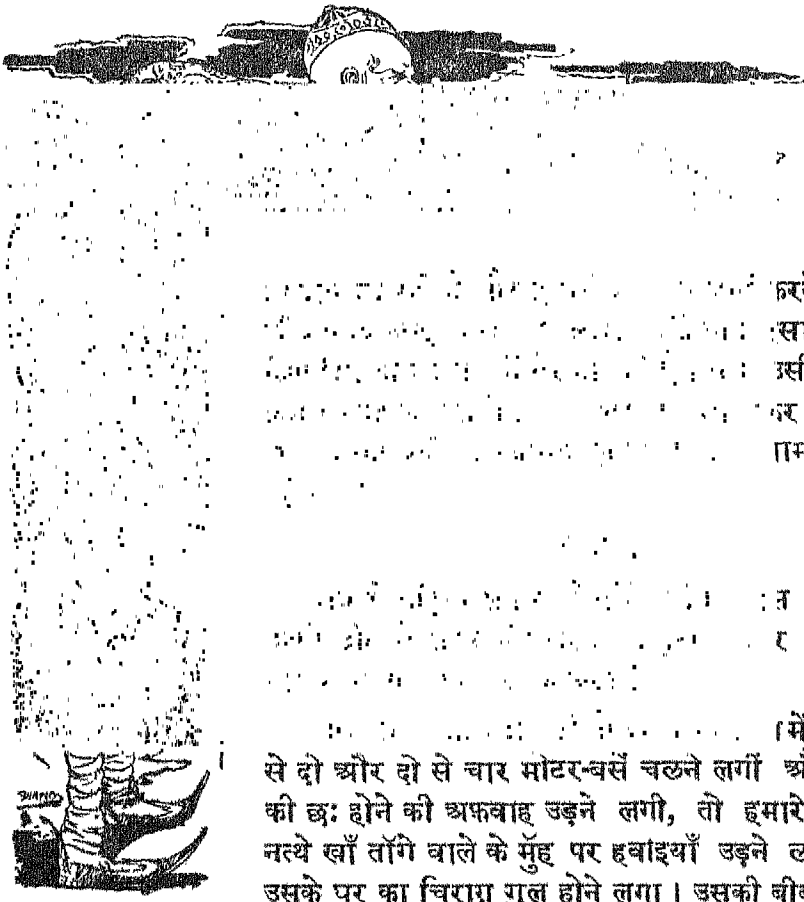

करने वाली
साफ़िरों को
उसी दिन से
र न करेंगे,
ाम ही को

न तौर पर
र मुरार से

में जब एक से दो और दो से चार मोटर-बसें चलने लगीं और चार की छः होने की अफ़वाह उड़ने लगी, तो हमारे पड़ौसी नत्थे खाँ ताँगे वाले के मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं और उसके घर का चिराग़ गुल होने लगा। उसकी बीबी यानी हमारी पड़ौसिन जुमेरातिन बीबी जब हमारी पठानिन यानी बेराम साहुल्ला के पास आकर रोने लगीं, तो हमने ढाढस बँधाते हुए क़सम खाई कि कम से कम हम आज से जी० एन० आई० टी० की लोकल-बसों में कभी न बैठेंगे। अपने दोस्तों को भी न बैठने की सलाह देंगे।

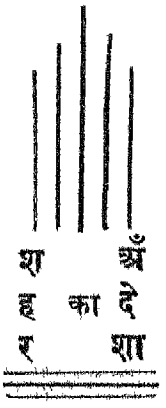

धीरे-धीरे बसों की तादाद तो कुछ कम हुई, मगर यह क़सम हमेशा को हमारे लिए बवाले जान बन गई। सिवा ताँगों के अब हमारे लिए कोई सहारा न रह गया और ताँगे वालों पर ठहरी म्युनिसिपैलिटी की ख़ास इनायत! इसलिए बड़े-बड़े बेढब ताँगे-घोड़े पास होकर मज़े में चलते हुए नज़र आए!

सिर्फ़ एक दिन का माजरा सुनाऊँगा, हालाँकि ऐसे मौके अक्सर आते ही रहते हैं।

बाजार में घूमते हुए ताँगों में से एक ने एक मरतबा हमें आगे बढ़ कर लिया। दो सवारी उसमें पहले से बैठी हुई थीं। हमारे बैठने के बाद 'एक सवारी लश्कर' कहते हुए उसने जब १७ मिनिट तक चक्कर काटे, तब चौथी सवारी मिली। मगर उसके बैठते ही पहले की सवारियों में से एक धीरे से उतर कर लम्बी हुई। उसके बाद फिर वही तराना—'एक सवारी लश्कर' और फिर वही चक्कर। काफी देर झख मारने के बाद जब एक सवारी और हाथ आई, तो दूसरी बनावटी सवारी भी धीरे से और खिसक गई! उसके बाद फिर वही 'एक सवारी लश्कर' जब यह हरक़त नाक़ाबिल बरदाश्त हो गई और तीनों भले मानुसों ने ताँगे वाले साहब को एक सुर में

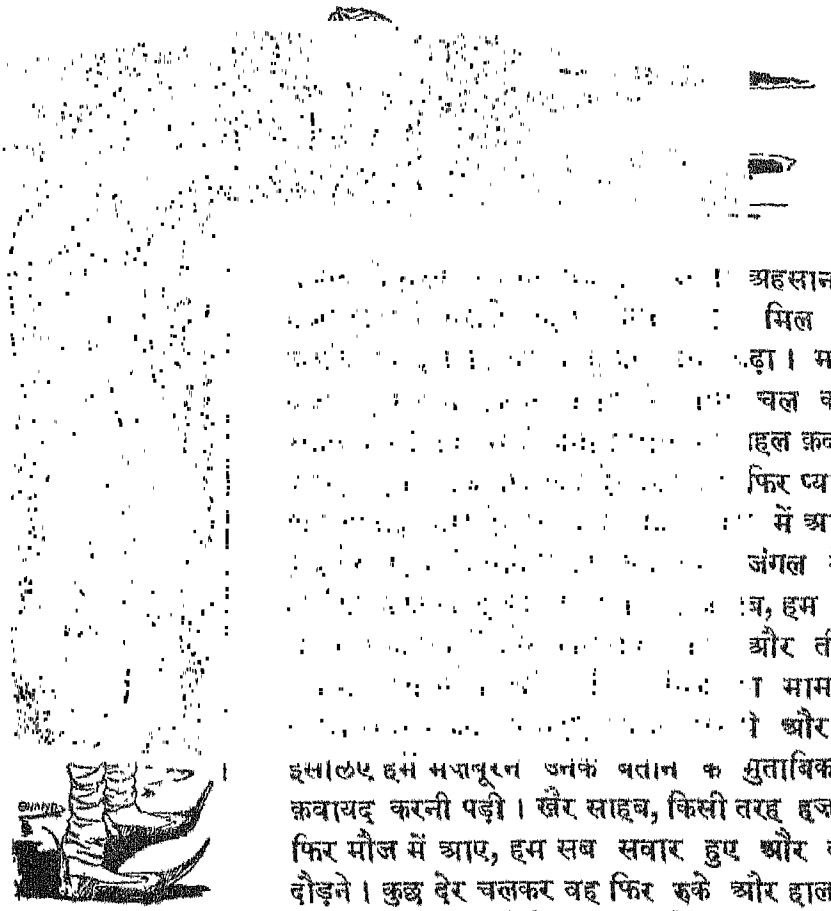

अहसान लादता
मिल जाने की
ढ़ा। मगर यह
चल कर घोड़े
हल क़दमी शुरू
फिर प्यार और
में आए और
जंगल में पहुँचे,
ब, हम तीनों में
और तीसरे को
ा मामला था,
ो और न इधर,
इसलिए हम मजबूरन उनके बतान के मुताबिक तमाम क़वायद करनी पड़ी। ख़ैर साहब, किसी तरह हजरत घोड़े फिर मौज में आए, हम सब सवार हुए और वह लगे दौड़ने। कुछ देर चलकर वह फिर रुके और हालाँकि हम अपनी मंजिल के बीचों-बीच में थे मगर उन्होंने वहीं अपनी मंजिल का खात्मा समझा।

अब ताँगे वाले तानाशाह का आर्डिनेन्स जारी हुआ कि कोई ताँगे से उतरे नहीं। उसके बाद हुई घोड़े शरीफ

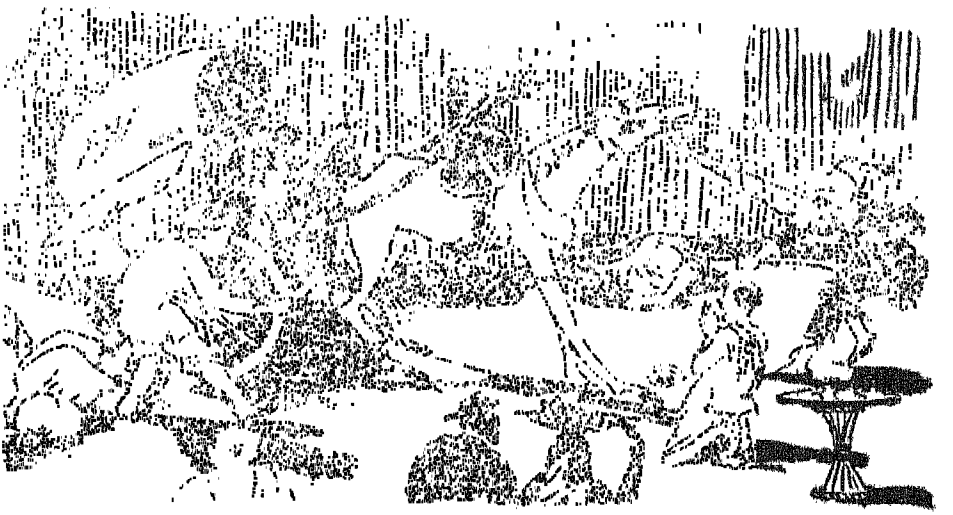

(एक—दो—तीन, पृष्ठ ८०)

की पिटाई फिर शुरू ! उसके विरोध में उन्होंने एक जोड़ जो कसकर मारा, तो तंग वगैरा, न जाने क्या क्या, टूट गया। अब एक मुसाफ़िर का साफ़ा माँगा गया। बेचारे ने बहुत चीं-चपड़ के बाद मंजिल के बीचों बीच होने की वजह से दे दिया। घोड़े को मारते-मारते जब चाबुक टूट गया, तो इस कारे ख़ैर को आगे जारी रखने के लिए ईजानिब का मोटा डंडा तलब किया गया। जब कोई बहाना न सुना गया, तो देना ही पड़ा। अपने साफ़े से हमारे साथी को और डंडे से ईजानिब को बेहद मुहब्बत ठहरी ! घोड़ा रह रह कर अलफ़ लेता था, मगर हम अपनी धरोहर के पीछे ताँगे से चिपके रहे। एक बार जो जोरों से वह सीधा खड़ा हुआ, तो तीसरे जंटिलमैन, जिनके पास न तो देने को साफ़ा था और न डंडा, उतर-कर खड़े होगए और क़सम खा-खाकर कि इस ताँगे में अब न बैठेंगे। उनकी कोई धरोहर अटकी भी न थी। ताँगे वाले को इस पर ताव जो आया तो उसने घोड़े की इस क़दर धुनाई की कि उससे दौड़ते ही बना। मगर वह जंटिलमैन बीच में छूट गए। अब ताँगे वाले के मुँह से रास्ते भर उनके सम्बन्ध में वह-वह फूल झड़ते रहे कि ख़ुदा की पनाह। उनका एक ख़ास रिमार्क यह भी था कि

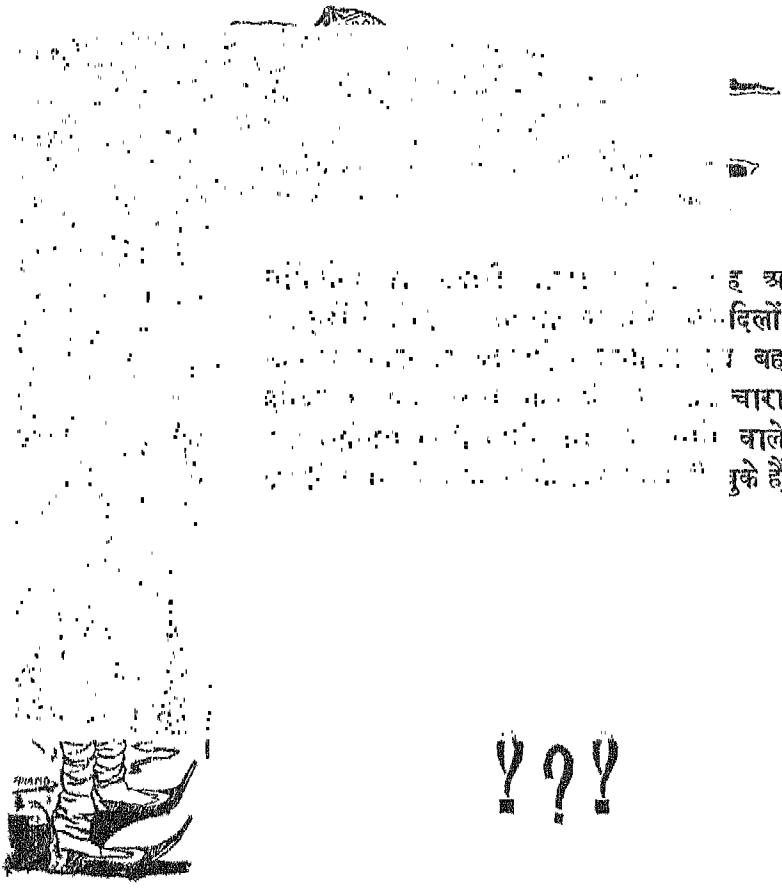

ह आप जैसे
दिलों के लिए
। बहादुरी से
चारा न था।
वाले! और
ुके हैं।

!?!

श अँ
ह का दे
र शा

बियासी

बीबियाँ शौहर बनेंगीं और शौहर.....

एक शाम को सोते वक्त, पान तम्बाकू की खरीद के मामले पर जरा बेगम साहिबा से झड़प हो गई और फिर नतीजे में 'नॉन कोपरेशन' सामने आगया। इसी उधेड़ बुन में नींद जो आई, तो एक मनहूस सपना दिखाई दिया। देखा कि पंडित लालबुझक्कड़ साहब की पंडितानी जी अपनी बिरादरी की एक खबर लाई हैं कि एक साहब ने अपने लड़के की दूसरी शादी इसलिए करली कि उसकी पहली बीबी बीमार है। बेगम साहिबा भरी हुई तो बैठी ही थीं पंडितानी जी की लाई हुई इस खबर पर उनके मिजाज का पारा 'बाइलिंग पॉइंट' पर जा पहुँचा। तड़प कर बोलीं कि अब तो मर्दों के जुल्म सहे नहीं जाते, इसका इलाज होना चाहिए। ये हमारे यहाँ ही देखो पान-पत्ते तक में तंगी करने लगे हैं।

पंडितानी जी ने बताया कि लड़के की दूसरी शादी

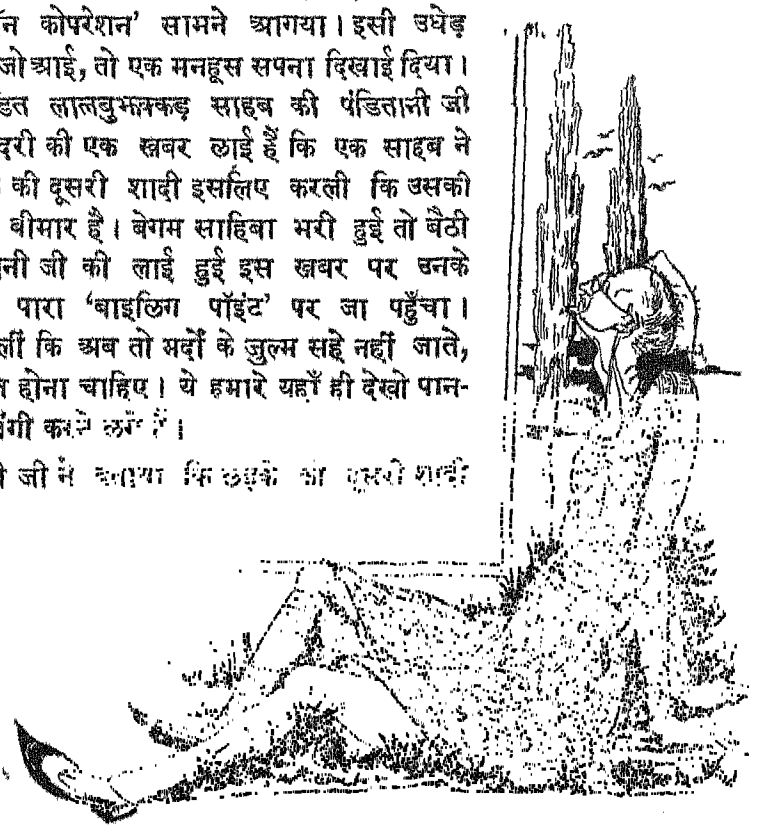

के अधिकारों
लिया गया
। अब बुड्ढे
दूसरी शादी
की किसी
कोई फतवा
गवर्नमेंट ने
ार करने के
अब तो हम
ा नहीं करने
का सोते से
आई और
झटका देकर जगाया, आँख जो खुली तो सुना कि बेगम साहिबा पूछ रही हैं कि क्या नहीं हो सकता? नतीजे में सपना बयान करके मर्दों की नाक नीची करानी पड़ी।

इस सपने का हाल जब हमने अपने क्लब में पेश किया, पंडित लाल बुझक्कड़ साहब कहीं से हिंदी का एक पुराना अखबार निकाल लाये, उसमें एक लेख में बताया गया था कि मर्द जनानियत की तरफ़ जा रहे हैं और औरतें मर्दानियत की तरफ़। सुबूत में कहा गया था कि

बीबियाँ शौहर बनेंगीं और शौहर.....

औरतें सिर के बाल कटवाने लगी हैं और मर्द सिर के बाल बढ़ाने और मूँछ उस्तरे से साफ़ रखने लगे हैं, औरतें पर्दा छोड़ रही हैं और नई फैशन के बाबुओं की बैठकों और हाकिमों के इजलासों पर चिकें पड़ने लगी हैं। और भी न जाने इसी बारे में क्या क्या ख़ुराफ़ात उस मजमून में भरी थी। हम लोग इस मामले पर बहुत 'सीरियस' होकर ग़ौर कर ही रहे थे कि कॉलेज से छुट्टी पाकर सफाचट मूँछें लिये कुछ छोकरे निकल पड़े और उनको देखकर शेख बजर-बट्टू ने किन्हीं भी शायर साहब के ये शैर कह डाले:—

माँग ली निस्वानियत से तुमने हर शीरीं अदा,
मरहबा, ए नाज़ुक अन्दामाने कालेज मरहबा।
ख़ालोख़त से जज्बाहाए सिनफ़े नाज़ुक आश्कार,
कर्जनी-चेहरों में ज़न बनने के अरमाँ बेक़रार।

और इस तरह की बेहूदगियों के सख्त ख़िलाफ़ होते हुए हम को भी इस शैर पर दाद देना पड़ी कि:—

जंग सर पर और यह महबूबियत छाई हुई,
नाज़ से नीची निगाहें चाल इठलाई हुई।

फिर भी मर्दों को आगे होने वाली परेशानी का ख्याल करके तबियत परेशान थी ही कि अख़बार में ख़बर पढ़ने को मिली कि अलीगढ़ यूनीवर्सिटी में औरत प्रोफेसर न

शहर का अँदेशा

र लड़कियों
के नीचे से
ी जा रही है
देने के लिए
रही है।

नव न होगा
त से बढ़कर
हीं मिलता।
साहिबा को
ी राय माँग
निकला:—

गीबियाँ"

बेगम साहिबा हँस पड़ीं और कहने लगीं कि लो सुन लो यही होनेवाला है। क्या कहूँ हजरत, घड़ों पानी पड़ गया कि यह मर्दों में 'फ़िफ़्थ कालम' (पाँचवे दस्ते) वाला कहाँ से निकल पड़ा। कुछ भी हो ईजानिब को पाक परवरदिगार पर भरोसा है, उसका नाम मुश्किलकुशा है, वह मर्दों की मुश्किल जरूर आसान करेगा और औरतों को हजार टाँय-फटाँय के बाद भी मर्दों की गुलामी ही करनी पड़ेगी क्योंकि दुनिया का मालिक खुदावन्द करीम भी मर्द है।

शहर का अँदेशा

आम-फ़हम भाषा डिक्शनरी

उस दिन बेगम साहिबा से कुछ रोजगार-धंधे के बारे में झगड़ा होगया। उनका कहना था कि इस लड़ाई के जमाने में छोटे से लेकर बड़ा तक कोई बेकार नहीं है। पड़ोसी चिथड़ू हज्जाम जिसके यहाँ न खाने का कुछ ठिकाना था, न पहनने का कुछ इन्तजाम, वह ७०) माहवार पर नौकर होकर लड़ाई पर चला गया। अब हर महीने तनख्वाह आजाती है और बीबी बच्चे मौज उड़ाते हैं। दूसरा पड़ोसी चमारू नानबाई चार पैसे की डबलरोटी चार आने में बेचकर मालामाल हुआ जा रहा है। इधर तुम्हारा यह हाल है कि गप्पें लड़ाने और मक्खियाँ मारने के सिवा कोई काम नहीं बहुत हुआ तो किसी अखबार के सम्पादक को चिट्ठी लिखने बैठ गये, जहाँ से मैंने तो कानी कौड़ी तक कभी आते देखी नहीं। इससे तो अज्जा मियाँ अच्छे हैं। सुना है, कि वह अजियाँ

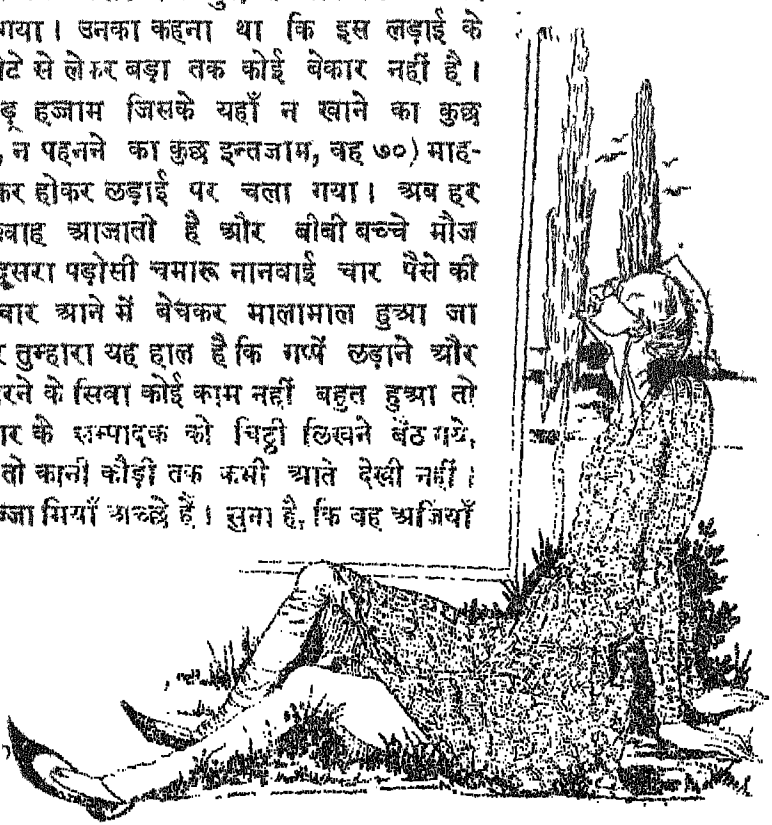

सन्यासी

[illegible] दौड़ते हैं, तो उनकी जेब [illegible] यह हाल है कि शादी [illegible] दिया था, उसके सिवा, [illegible] देखा। कपड़ों में हमेशा [illegible] चवट्टू के पाले पड़ी !

[illegible] आया और हम मौके [illegible] तो न जाने, क्या [illegible] आने में आकर दो कश [illegible] को सावधान करके [illegible] इस जईफी में क्या धंधा [illegible]।

[illegible] भ में आया कि किताबें छापने का काम शुरू किया जाय। घर के बगल ही में अमजद मियाँ "कटे मूँड़ की दो-दो बातें" छाप-छाप कर काफी पैसा कमा रहे हैं। सुना है कि ४ पैसे की लागत की किताब की वह आठ आने कीमत रखते हैं और ७५ प्रति सैकड़ा कमीशन दे देते हैं। बस, किताबें हाथों हाथ बिक जाती हैं। यह भी समझ में आया कि बेगम सादुल्ला के भाई के घर का प्रेस है और इसलिए वे बहनोई की किताबों को शायद छपाई भी न लें तो और भी पौ-बारह

रहेंगे। लेकिन अगर कहीं कलजुगी साले निकले, तो छपाई में किफायत तो करही देंगे, इसमें तो कोई शक नहीं है। खैर, यह विचार पक्का करके अब सोचा गया कि किस किस्म की किताब पहले निकाली जाय और किससे लिखवाई जाय। किताबों के लिक्खाड़ों से जो पूछा तो वह पेशगी लिखाई के लिए हाथ फैलाने लगे। यहाँ जमा-पूँजी में अल्लाह का नाम था। आखिर बात सूझी तो अपने को ही। आजकल आम-फ़हम भाषा का झगड़ा चल रहा है। उसकी एक डिक्शनरी पहले से बनाकर क्यों न तैयार करली जाय। क्योंकि जब आन्दोलन प्रारम्भ हुआ है, तब फिर आम-फ़हम भाषा तो बनेगी ही। यद्यपि ईजानिब को इस रोजगार में किसी तरह के नुक़सान का अन्देशा तो था नहीं, फिर भी समझदारी के सिद्धान्त के अनुसार पाँच पंचों की राय के लिए मामला "चुस्की क्लब" में पेश किया गया। पण्डित लालबुझक्कड़ ने कहा कि तुम्हारा ख़याल मूर्खता से भरा हुआ है। दुनिया में आज तक कोई आम-फ़हम भाषा नहीं हुई; कुछ लोग बोली और भाषा को एक कर देना चाहते हैं। दुनिया के सब देशों में बोलने और लिखने की दो-दो भाषाएं मौजूद हैं। किसी भी देश में डॉक्टरी, साइन्स, कानून आदि की

[illegible] है, और [illegible] में तो इस [illegible] के साथ [illegible] साम्प्रदायिक [illegible] की नजर [illegible] आम-फ़हम [illegible] में अरबी-[illegible] प्यारे कॉमरेड [illegible] आड़ में [illegible] में भाषा के [illegible] कर लिया [illegible] हैं, जो [illegible] (विकालत, डॉक्टरी वगैरा) की तरक्की कर लेना चाहते हैं। मतलब यह कि सचाई और ईमानदारी कहीं नहीं है, चारों तरफ़ तिकड़मों का ही जाल बिछा हुआ है।

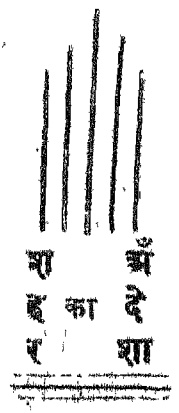

खैर, भाई, अपनी पूरी स्कीम तो बताओ। इस आम-फ़हम भाषा की कसौटी क्या होगी और आपकी इस डिक्शनरी को बनायेगा कौन ? जितनी भाषाएँ हम आप जानते हैं वे सब तो अच्छी तरह मालूम ही हैं और

सब से ज्यादा गड़बड़ घोटाला तो इस आम-फ़हम भाषा डिक्शनरी नाम में ही है। अपने इस क्लब में शंका-समाधान का ठेका अपने सिर ही आ पड़ा है। आखिर हमने ही समझाया कि सब से ज्यादा अक़्लमंदी तो इसके नाम में ही है। देखिये आम और फ़हम लफ़्ज फ़ारसी-अरबी के है। इससे मुसलमानों को तसकीन हो जायेगी, भाषा शब्द से हिन्दुओं को संतोष हो जायगा और डिक्शनरी से ईसाई-हिन्दू-मुसलमान सभी को, क्योंकि वह सरकार बहादुर की भाषा का शब्द है। अँग्रेजी का शब्द नहीं समझ में आता होगा तो झकमार कर सीखेंगे—देखिये न एल-एल. बी. बनने के लिए कितने लोग पागल बने फिरते हैं। अँग्रेजी के कानूनों को समझने के लिए पहले बी.ए. पास करते हैं। आज तक किसी भकुए ने यह आन्दोलन नहीं उठाया कि अँग्रेजी का कानून आम-फ़हम भाषा में लिखा जाय। उसे समझने के लिए सब चुपचाप बी. ए. तक दौड़ लगाने में कोई हुज्जत नहीं करते बल्कि बड़ी बहादुरी समझते हैं। [illegible] कुछ मतलब नहीं। [illegible] डिक्शनरी के नामकरण [illegible] हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सब का मुँह [illegible] देखिये [illegible]

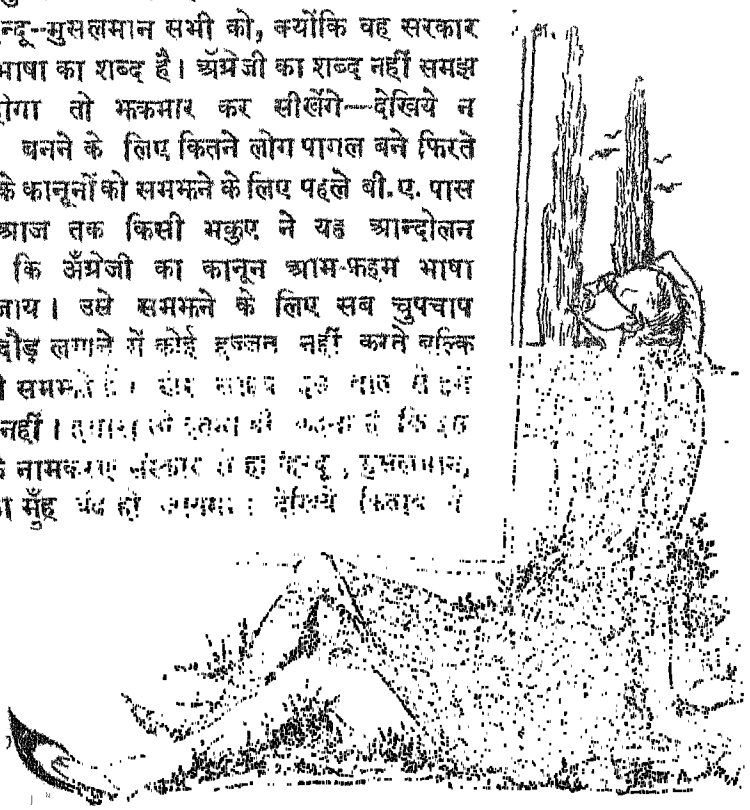

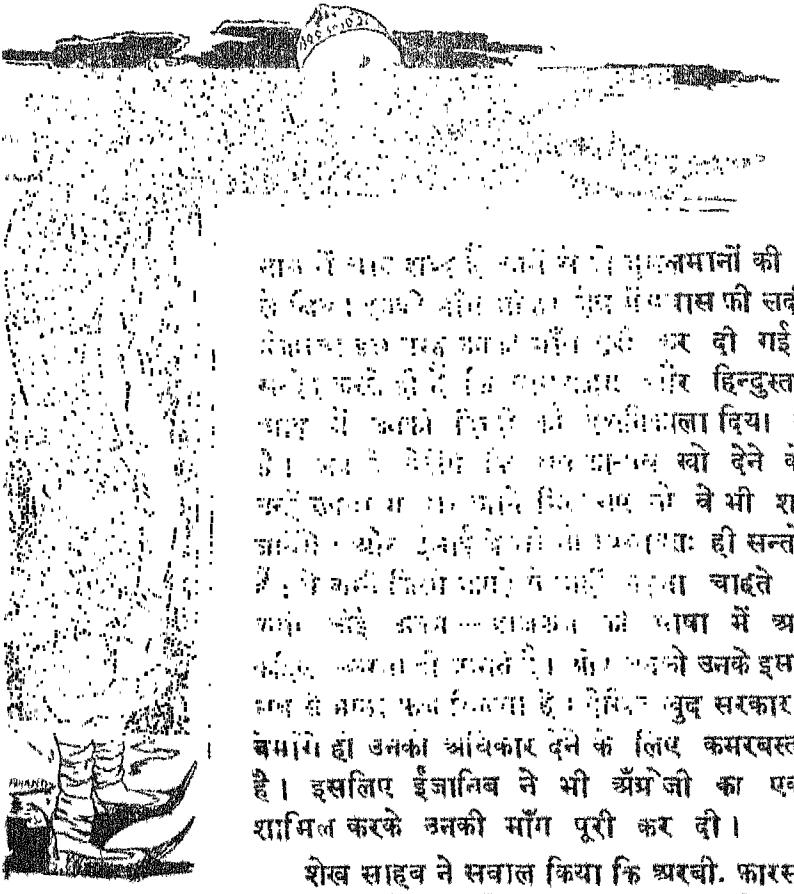

[illegible] मुसलमानों की भाषा से [illegible] पास फ़ी सदी की है, [illegible] कर दी गई। हिन्दू [illegible] और हिन्दुस्तानी की [illegible] दिया जा रहा है। [illegible] खो देने के बजाय [illegible] वे भी शान्त हो [illegible] ही सन्तोषी होते [illegible] चाहते और न [illegible] भाषा में आन्दोलन [illegible] उनके इस सब्र का [illegible] है। [illegible] सरकार बहादुर [illegible] उनको अधिकार देने के लिए कमरबस्ता रहती है। इसलिए ईजानिब ने भी अँग्रेजी का एक शब्द शामिल करके उनकी माँग पूरी कर दी।

शेख साहब ने सवाल किया कि अरबी, फारसी और अँग्रेजी पर हिन्दुस्तानियों का क्या इजारा—ये तो विदेशी भाषाएँ हैं फिर वह चाहें मुसलमान हों चाहें ईसाई। तब हमें समझाना पड़ा कि यह हिन्दुस्तान के मिट्टी पानी का खास गुण है कि वह जिसका हो कर रहता है सोलह आने

उसी का होकर रहता है। हिन्दुस्तानी आदमी जब मुसलमान होता है तो फिर अपना देश अरब को समझने लगता है और वहीं की भाषा, वेश और खान-पान रीत-रिवाजों को अपनाता है और जब ईसाई होता है तो सोलह आने अंग्रेज बनने की कोशिश करता है और जब कम्यूनिस्ट होता है तो फिर रूस के साथ अपने भाग्य को नत्थी करता है। यद्यपि कम्युनिस्टों को धर्म के नाम से चिढ़ है, जैसे ईसाई पादरी गुण-कर्म-स्वभाव से ब्राह्मण होते हुए भी अपने को ब्राह्मण नहीं कहता। ईजानिब की राय में कम्यूनिज्म भी एक धर्म ही है। इसीलिए हिन्दुस्तानी मुसलमानों ने अरब को अपना देश और अरबी को अपनी मातृ-भाषा मान लिया है। उधर फ़ारसी अरबी दोनों ने हिन्दुस्तान में आकर उर्दू का बुरका ओढ़ कर बहनापा जोड़ लिया है इसलिए फ़ारसी खाली-भाषा होगई। खाली (मौसी) पर बहनोते का माँ से भी अधिक हक़ माना जाता है। मसल भी मशहूर है "खालाजी-का घर"। इसलिये अरबी फ़ारसी को हिन्दुस्तानी मुसलमान अपनी बपौती समझते हैं।

और आम-फ़हम भाषा की कसौटी होगी वह भाषा जिसे आन्दोलनकारी समझ सकें।

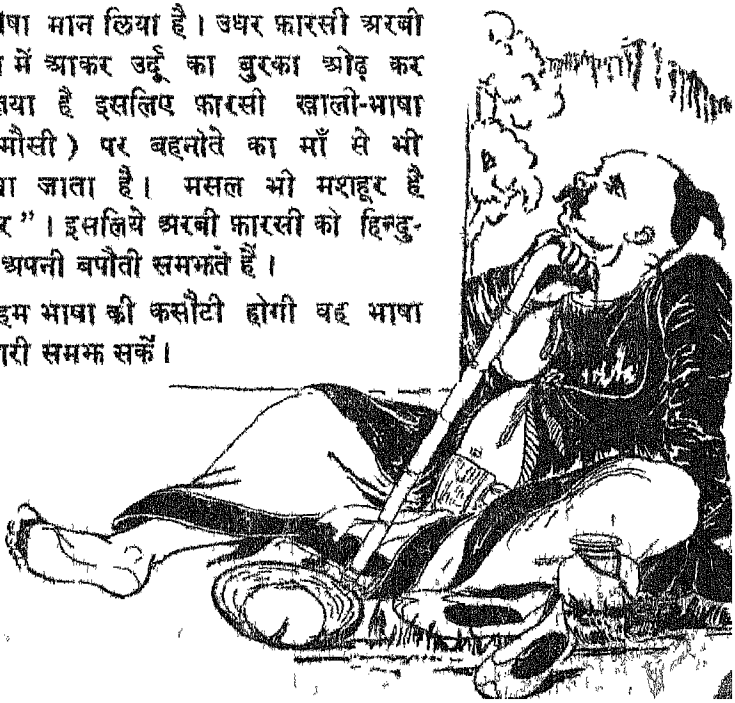

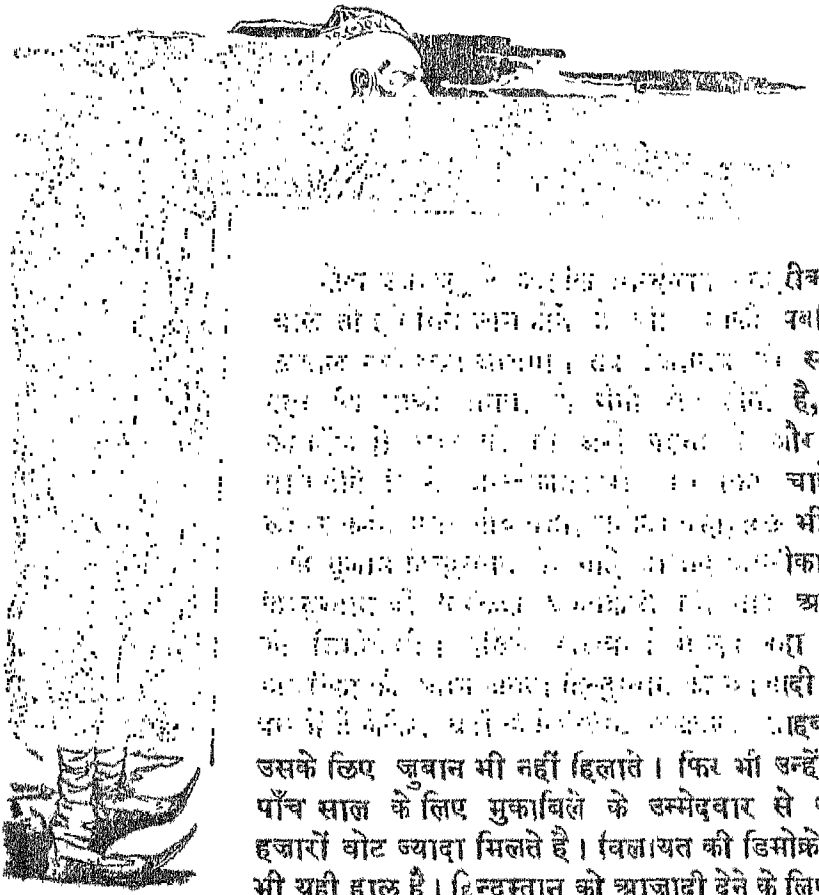

[illegible] ठीक—करने [illegible] पब्लिक का [illegible] समझाना [illegible] है, जिधर [illegible] और हाँकने [illegible] चाहे उन्हें [illegible] भी कहो। [illegible] का, चाहे [illegible] अमरीका [illegible] है कि [illegible] आजादी देने के [illegible] साहब हैं कि उसके लिए जुबान भी नहीं हिलाते। फिर भी उन्हें अगले पाँच साल के लिए मुकाबिले के उम्मेदवार से सैकड़ों-हजारों वोट ज्यादा मिलते हैं। विलायत की डिमोक्रेसी में भी यही हाल है। हिन्दुस्तान को आजादी देने के लिए और काँग्रेसी नेताओं को छोड़ने के लिए कॉन्फरेंसों में बड़े-बड़े प्रस्ताव पास हो रहे हैं, फिर भी अब तक न तो नेता ही छूटे, और न हिन्दुस्तान को आजादी ही मिली, और चर्चिल साहब अपनी जगह पर बरकरार हैं। यह सब इसलिए है

कि आन्दोलनकारी इनके साथ हैं। सुनते हैं कि रूस में आम जनता के दिमाग़ में से यह भेड़पना निकाल दिया गया है। लेकिन वह तो सब सुनी-सुनाई बात है। मतलब यह कि सारी दुनिया में आम जनता भेड़ है और आन्दोलनकारी जो कुछ कहें वही उसकी राय है, फिर चाहे उन्हें नेता कहिए, एम० पी० कहिए, सीनेटर कहिए कुछ भी कहिए।

डिक्शनरी बनाने का बड़ा सरल तरीका ईजानिब ने ईजाद किया है। हर भाषा की डिक्शनरी तो पहले से तैयार मौजूद है ही। बस उन्हीं को इकट्ठा करके अँग्रेज़ी हुरूफ़ों में एक सिलसिले से नकल भर कर देनी है। बजरबट्टू ने कहा कि अँग्रेज़ी हुरूफ़ों में ही क्यों? हिन्दुस्तान की ही किसी दूसरी भाषा के हुरूफ़ों में ही क्यों न छापी जावे? ईजानिब ने समझाया कि हिन्दुस्तानी भाषा के हुरूफ़ों के बारे में हिन्दुस्तानियों में इस समय एक मत होना मुश्किल है। बंगाली को मराठी हरूफ़ पसन्द नहीं, पंजाबी को गुजराती पर एतराज़ है और हिन्दी-उर्दू के झगड़े का तो फिर कहना ही क्या। लेकिन अँग्रेज़ी को सब सिर माथे पर रखते हैं। भाषा के मामले में ही नहीं, और बातों में भी देख लीजिये। मुसलमान को अपने नाम के साथ भी लिखने में एतराज़ है और हिन्दू को अपना नाम लिखने

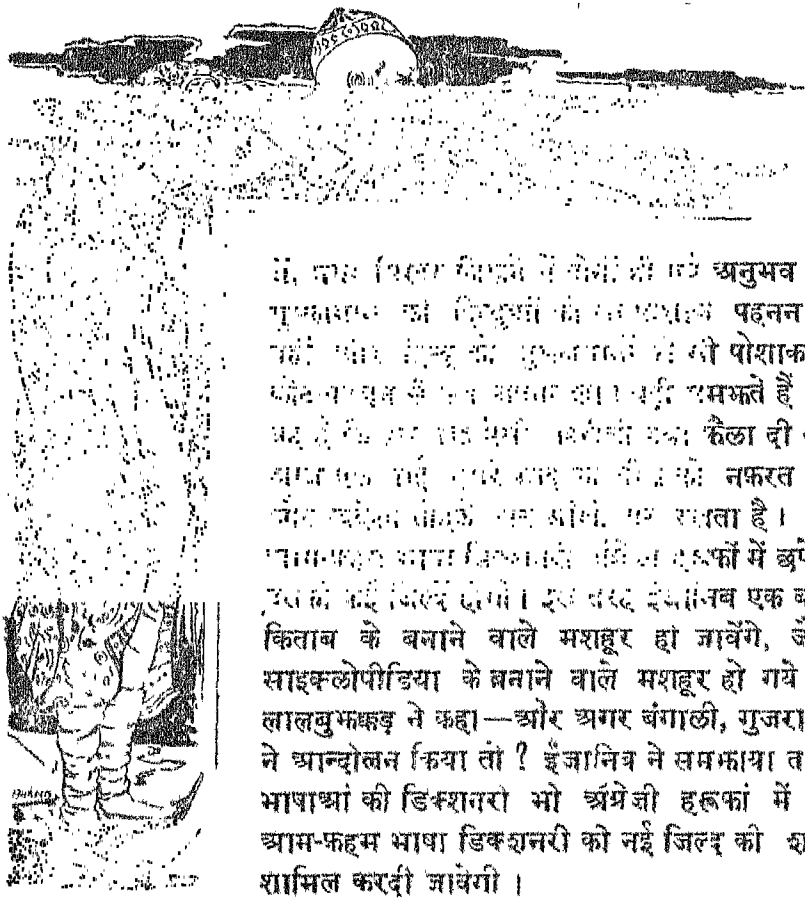

[illegible] अनुभव करते हैं। [illegible] पहनना गवारा [illegible] पोशाक, लेकिन [illegible] समझते हैं। मतलब [illegible] फैला दी गई है कि [illegible] नफरत करता है [illegible] है। इसलिए, [illegible] छपेगी और [illegible] इंजानिब एक बहुत बड़ी किताब के बनाने वाले मशहूर हो जावेंगे, जैसे एन-साइक्लोपीडिया के बनाने वाले मशहूर हो गये। पंडित लालबुझक्कड़ ने कहा—और अगर बंगाली, गुजराती वालों ने आन्दोलन किया तो? इंजानिब ने समझाया तो उनकी भाषाओं की डिक्शनरी भी अंग्रेजी हरूफों में छापकर आम-फहम भाषा डिक्शनरी की नई जिल्द की शक्ल में शामिल करदी जावेगी।

मियाँ बजरबट्टू ने फिर तीर छोड़ा, उनके तरकस में शायद यह आखरी तीर था। उन्होंने कहा कि अगर यह आम-फहम भाषा न बन सकी तो? तब तो आपकी यह डिक्शनरी बेकार जायगी! लेकिन अपने पास तो काट

MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL.

तैयार रहती है। हमने कहा कि खलकत की आवाज़ ख़ुदा का नक्कारा कहलाती है। आपने सुना नहीं है:—

"आवाज़-ए-खल्क को नक्कार-ए-खुदा समझो"

सो ख़ुदा का नक्कारा कभी बेकार नहीं जा सकता। देखिए पानी न बरसने पर लोग चिल्ला उठते हैं कि अकाल पड़ेगा। अकाल पड़ेगा और अकाल पड़ ही जाता है; खलकत चिल्ला रही थी कि हिटलर हारेगा, देख लीजिए हिटलर हार रहा है कि नहीं; शहर में शोर मचता है कि फलाँ 'बड़ा आदमी' या 'बड़ी आदमिन' मर गई, अब हड़ताल होगी। आप दो-चार घंटे में देखेंगे कि नक्कार-ए-ख़ुदा के सामने झख-मारकर शहर में हड़ताल हो रही है। इसी तरह जनाब आम-फ़हम भाषा को बनना ही पड़ेगा।

मेरी बात को सुनकर बजरबट्टू और लाल बुझक्कड़ दोनों ही हँस पड़े। क्या किया जाय अक़लमन्दी की बात पर मूर्खों को हँसते ही देखा है।

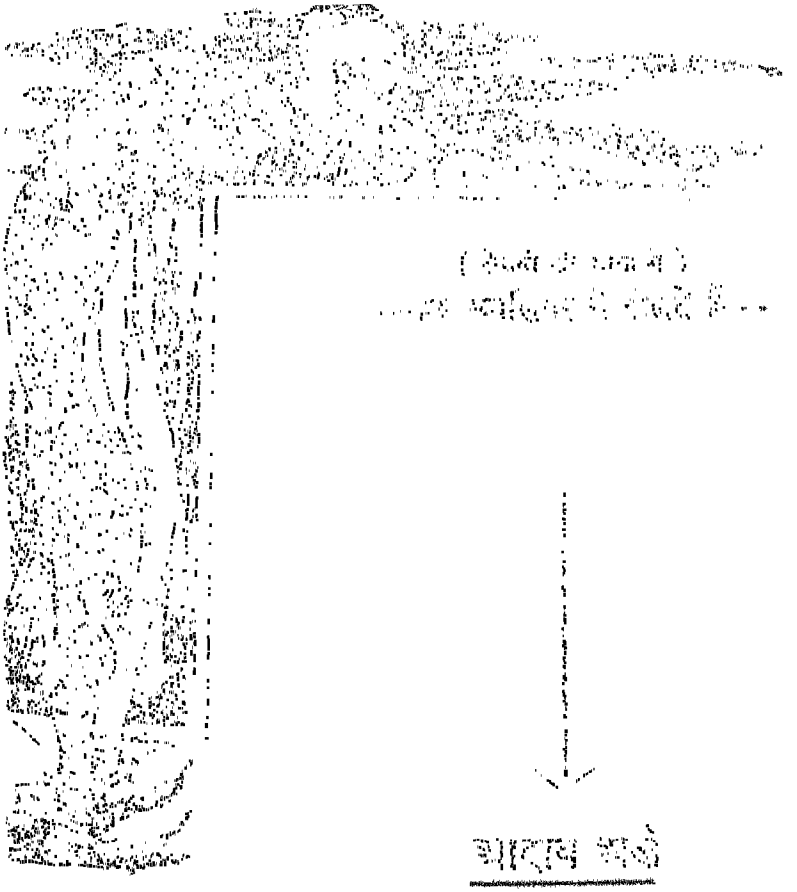

शहर का अँदेशा